# धर्म

लेखक एवं प्रकाशक

**धर्मपाल कपूर**

बी०ए० ऑनर्स, एम०ए०

कोठी नं. 1135, सैक्टर 11

पंचकूला-134112 (हरियाणा)

फोन : 0172-2567845

मोबाइल : 9356301618

**संस्करण : 2019**
**प्रतियाँ : 1000**

**धर्मपाल कपूर**
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

टंकण एवं साजसज्जा : **अभिनव इंटरप्राइजिज, मो. 94683 40497, 81684 90221**
मुद्रक :

# दो शब्द

**धर्म न मन्दिर में मिले, धर्म न मस्जिद में मिले।**
**धर्म न गिरिजे में मिले, धर्म न गुरुद्वारे में मिले।।**
**धर्म न ग्रंथों में मिले, धर्म न हाट बिकाये।**
**धर्म उसे ही मिले, जो इसे अपनाये।।** —धर्मपाल कपूर

संसार के विभिन्न पंथों की पुस्तकों का जिन्हें धर्मग्रंथ कहते हैं, परन्तु ग्रंथ तो ऋषि महर्षियों द्वारा बनाये गये हैं अथवा बनाये जाते हैं का अध्ययन करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि संसार के सब व्यक्तियों का एक ही धर्म है वह है सत्य, क्योंकि असत्य किसी का धर्म हो ही नहीं सकता। धर्म क्या है? महर्षि दयानन्द धर्म की परिभाषा लिखते हैं—

**जो पक्षपात रहित, न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार है, उसी का नाम धर्म है। इसके विपरीत सब असत्य एवं अधर्म है।**

परन्तु मानव ने अपने अहम्, स्वार्थ, रुचि, परिस्थितियों, कुप्रथाओं, अंधविश्वासों के कारण अलग-अलग पंथ एवं ग्रंथ बना लिये हैं। इन सब सम्प्रदायों के मार्ग एवं पूजापद्धति तो अलग-अलग है। परन्तु इन सब का मन्तव्य एवं गंतव्य एक है। जैसे सरदारी लाल धवन 'कमल' जी लिखते हैं—

**क्यों ढूंढता ख़ुदा को है पूजा-नमाज़ में,**
**उल्फ़त (प्रेम) को छोड़ और कहीं भी ख़ुदा नहीं।**
**मंजिल तो है ख़ुदा ही मज़ाहिब (धर्मसमूह) है रास्ते,**
**अच्छा वही है जिस पे 'कमल' शक नहीं किया।।**

अतः डॉ० गुलाम जेलानी का यह घोष सुनिये—

**मज़हब अज़द (आदिकाल) से एक था, एक है और एक ही रहेगा।**

—अल्लाह की आदत पृ० 234

संसार का प्रत्येक व्यक्ति कहता है चाहे वह हिन्दू हो, मुसलमान हो या अंग्रेज़ हो कि सच बोलो, चोरी न करो, रिश्वत न लो, व्याभिचार न करो, शराब एवं अन्य विषैले पदार्थों का सेवन न करो। किसी को दुःख न हो, असहाय एवं सुपात्र की यथायोग्य सहायता करो, सब का भला चाहो। जो काम सब के सामने किया जाये वह धर्म है और इसके विपरीत जो छिप कर

किया जाये वह अधर्म । अतः धर्म का अर्थ है वैदिक सिद्धान्तों का आचरण करो अर्थात् वेद प्रतिपादित धर्म का आचरण करो ।

**वस्तुतः धर्म पति है, राजनीति पत्नी है । पत्नी पर पति का अंकुश जरूरी है । नहीं तो राजनीति बेलगाम वेश्या बन जाएगी और देश में अन्याय, अत्याचार, अधर्म, अनैतिकता, गुंडागर्दी, भ्रष्टाचार छा जाएगा और देखलो भारत में छा चुका है । क्योंकि धर्म का दूसरा नाम मानवता, न्याय और कर्तव्य है ।**

इसलिए स्वामी शिवानंद लिखे हैं–

**Real religion is one. It is the religion of truth and love. It is religion of heart. It is the religion of service, sacrifice and renunciation. It is the religion of goodness, kindness and tolerance.**

–Bliss Divine P. 472

सच्चा धर्म केवल एक ही है । यह धर्म सत्य एवं प्रेम का धर्म है । यह धर्म हृदय, सेवा, बलिदान और त्याग का धर्म है । यह धर्म नेकी, दयालुता एवं सहनशीलता का धर्म है ।

आज भी धर्म के नाम पर सब से अधिक झगड़े, हत्याएँ आदि होती हैं । इसका मुख्य कारण है संस्कारों का अभाव, अज्ञानता, संकीर्णता आदि । अतः आज इन सब को छोड़कर हमें उदारता अपना कर सब का भला करना चाहिये ताकि विश्व में सुख, शांति एवं आनंद की वृष्टि हो । हम सच्चे अर्थों में इन्सान बने जैसे कि एक उर्दू शायर ने लिखा है–

**अब तो मज़हब कोई ऐसा चलाया जाये ।**
**जिसमें इंसान को इसान बनाया जाये । ।**
**आदमी और आदमी के बीच हो ऐसे रिश्ते ।**
**मैं रहूँ भूखा तो तुझ से भी न खाया जाये । ।**

इसी प्रकार शाद बिलगवी के शब्दों में –

**न तो रूहानियत को कहते हैं ।**
**और न शैतानियत को कहते हैं ।**
**आदमी की लुग़ात (शब्दकोष) में ए शाद !**
**धर्म इंसानियत को कहते हैं ।**

अंततः इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मैंने ''धर्म'' नामक पुस्तक अनेकों ग्रंथों के अध्ययन एवं अनुशीलन करने के पश्चात् अनेक वर्षों की कड़ी मेहनत एवं सच्ची लगन के उपरांत लिखी है इसमें धर्म के चार मुख्य

आचरण, धर्म के मुख्य लक्षण, धर्म का सच्चा स्वरूप, धर्म के नाम पर मानवता का अभाव, धर्म एक और सम्प्रदाय अनेक, धर्माचरण का मर्म, सुखी जीवन का एक मात्र आधार—धर्म आदि विषयों का विशद् विवेचन करके धर्म रहस्य पर प्रकाश डाला गया। इन विषयों का एक खूबसूरत गुलदस्ता मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ। लीजिये अब आप भी इस रुहानी गुलदस्ते रूपी ''धर्म'' के पुष्पों को देखिये और झूम-झूमकर आनंदविभोर हो जाइए।

प्रस्तुतः पुस्तक के लिखने में मुझे सर्वश्री लालचंद चौहान, रोशनलाल अग्रवाल, नरेश बंसल, जयकिशन जी आदि ने सहयोग प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त मैं उन सभी लेखकों एवं कृतिकर्ताओं का भी अत्यन्त धन्यवादी हूँ जिनकी कृतियों में से संदर्भ उद्धृत किये गये हैं। वस्तुतः बोलना सरल है परन्तु लिखना अत्यधिक कठिन। जैसेकि संस्कृत में एक उक्ति है—

**शतं वद एकं मा लिख**

सौ बार कहो परन्तु एक बार भी मत लिखो। क्योंकि लेखन में यदि कोई त्रुटि रह गई तो वह तुरन्त पकड़ी जायेगी और लेखक की पोल खुल जायेगी। मैंने प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में पूर्ण सावधानी बरती है। परन्तु संसार के प्रत्येक व्यक्ति की भाँति अल्पज्ञ व अपूर्ण होने के कारण फिर भी यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो मैं पाठकगण से क्षमा चाहूँगा।

दिनांक : 6.2.2019

(**धर्मपाल कपूर**)
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

# निवेदन

श्री धर्मपाल कपूर जी ने धर्म नामक पुस्तक के माध्यम से धर्म के महत्त्व का सरलता से समझाने का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य जनहित में किया है। पुस्तक में धर्म की अलग-अलग मान्यताओं को बड़े सरल तरीके व उदाहरणों द्वारा व विद्वानों, ऋषि-महर्षियों के ग्रंथों के दृष्टान्तों का उल्लेख करके पुस्तक को ज्ञानवर्धक एवं रुचिकर बनाया है। इस पुस्तक से धर्म के विषय में उत्पन्न की जा रही भ्रान्तियों का समाधान होगा। धर्म की परिभाषा, धर्म की मान्यता, धर्म के महत्त्व को तर्कपूर्ण बड़े सुनिश्चित ढंग से समझाने का अद्‌भुत प्रयास किया है। यह पुस्तक पढ़ने वालों को अवश्य ही सत्य धर्म के विषय में सत्य पथ का मार्ग दर्शन करेगी। मुझे इस पुस्तक के सम्पादन का कार्यभार सौंपा गया। मैंने गलती न रहे ऐसा प्रयास किया है।

ईश्वर और धर्म के विषय में सबसे अधिक भ्रान्ति व अन्धविश्वास लोगों में पाखण्डियों ने उत्पन्न कर रखा है। मैं यह सर्वप्रथम स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जिनको हम धर्म कहते हैं या मानते हैं, वास्तव में वे धर्म नहीं हैं। जैसे सनातन धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, सिक्ख धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म आदि। ये सब पंथ, सम्प्रदाय एवं समुदाय हैं। धर्म का इन से कोई सम्बन्ध नहीं। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख, जैन, बौद्ध आदि के साथ धर्म जोड़कर इन्हें अलग-अलग धर्म की संज्ञा दे दी गई। इसका कारण जो इन पंथ, सम्प्रदायों को पैदा करने वाले हुए हैं उन्होंने अलग-अलग समुदाय अपनी महत्त्वकांक्षा को व अपनी रोज़ी-रोटी का साधन बना लिया और धर्म की परिभाषा अपने ढंग से अलग-अलग कर डाली। इसके दुष्परिणाम सब को भुगतने पड़ रहे हैं।

हिन्दू सनातन धर्म को कहते हैं। सनातन कोई धर्म नहीं है। सनातन का अर्थ है जो कभी पुराना न हो, सदा नया रहे। जैसे दिन रात का चक्र सदा नया रहता है। जहाँ तक हिन्दू शब्द की बात है यह फारसी भाषा का है जिसका अर्थ है काफ़िर। समझदारों के लिये इतना इशारा काफी है। सनातन

शब्द का अर्थ अथर्ववेद में इस प्रकार से मिलता है–

**सनातनमेनमाहुरताद्य स्यात् पुनर्णवः ।**
**अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रुपयोः** अथर्व. 10.8.23

जो कभी पुराना न हो वेदानुसार सबसे पुराना वैदिक धर्मः है जो वेद आधारित है । अन्य धर्म नहीं, पंथ सम्प्रदाय हैं । वेद ईश्वरकृत हैं, मानवकृत नहीं । वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है । वेद स्वतः प्रमाण है, वेद को अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है । वेद में असत्य कुछ भी नहीं है । पुस्तक में कुछ प्रसंग वैदिक मान्यता के विरुद्ध हो सकते हैं । वे पंथ, सम्प्रदायों से संबंधित हो सकते हैं । ईश्वर के विषय में सबसे अधिक भ्रान्तियाँ धर्म के ठेकेदारों ने उत्पन्न कर रखी हैं । ईश्वर एक है, उसका सर्वश्रेष्ठ एवं प्रमुख नाम ओ३म् है । वेद में ईश्वर के स्वरूप का अनेक स्थानों पर वर्णन है । ओ३म् खं ब्रह्म । (यजु. 40.17) अर्थात् आकाश के समान व्यापक, सबसे बड़ा, सब जगत् का रक्षक ओ३म् है । ओ३म् क्रतो स्मर अर्थात् ओ३म् का स्मरण कर । धर्म के विषय में भ्रान्तियाँ फैला रखी हैं । यह जानना आवश्यक है कि धर्म क्या है ? महाभारत में विदुरनीति में श्लोक है–

**नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति । म तत् सत्यं यत् छलेनाभ्युपेतम् । ।**

(विदुरनीति 3.58)

वह धर्म नहीं जहाँ सत्य नहीं है । वह सत्य नहीं जहाँ छल है ।

सत्य यह धर्म, असत्य यह अधर्म । न्याय यह धर्म और अन्याय यह अधम । निष्पक्ष यह धर्म, पक्षपात यह अधर्म । न लिंगम धर्मकारणाम् । (मनुस्मृति) अर्थात् बाहरी चिह्नों से कोई धर्मात्मा नहीं बनता । जैसे काला-पीला चोला पहनना, दाढ़ी मूंछ या सिर के बाल बढ़ाना, कंठी माला, चिमटा, त्रिशूल आदि रखना बातों का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है । ये निरा पाखण्ड है, छलावा है ।

महर्षि दयानन्द ने धर्म की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'सत्य' ही धर्म है, असत्य किसी का भी धर्म नहीं हो सकता । **आचारः परमो धर्मोः**

(मनुस्मृति 1.108) अर्थात् शुभ गुणों के आचरण का नाम ही धर्म है। मन, वचन, कर्म से सत्य का आचरण, पक्षपातरहित न्याय, परोपकार, सदाचार आदि का नाम धर्म है।

संसार में पंथ सम्प्रदाय हैं जो किसी न किसी व्यक्ति द्वारा अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये चलाए गये हैं। मनुष्य जीवन का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्ति का है। धर्म जो सत्य पर आधारित है अर्थात् सत्य ही धर्म है। जीवन में सब कार्य धर्मानुसार जो वेदों अनुसार हैं करने चाहिये। चाहे वह अर्थ सम्बन्धी हैं, या काम वासना से सम्बन्धित हैं। सब कार्य धर्मानुसार होने पर ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। क्योंकि मोक्ष प्राप्ति बिना योग साधना के नहीं होती और योग के महर्षि पतंजलि ने आठ अंग बतलाये हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम-नियम के भी पाँच-पाँच अंग हैं। इनका पालन करने पर शरीर की बाहरी शुद्धता एवं आन्तरिक शुद्धता होती है।

जो पुरुष धर्म का नाश करता है, धर्म उसका नाश कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। मारा हुआ धर्म कभी हमको न मार डाले, इस भय से धर्म का हनन अथवा त्याग कभी नहीं करना चाहिये।

जो सुख की वृष्टि करने हारा सब ऐश्वर्य का दाता धर्म है, जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी उसकी रक्षा करता है। जो धर्म की रक्षा नहीं करता विद्वजन उसे वृषल अर्थात् नीच समझते हैं। इसलिए किसी भी मनुष्य को धर्म का लोप करना उचित नहीं। (मनुस्मृति)

निश्चय जो धर्म है वह सत्य है, सत्य अच्छाई को उत्पन्न करता है और अच्छाई का जन्म प्रयत्न और परिश्रम से होता है। इसलिये सबको प्रयत्न करके अधर्म को छोड़ कर धर्म का पालन करना चाहिये। मन, वचन, कर्म से सत्य का आचरण करना चाहिये। यह सर्वमान्य है कि ऋग्वेद विश्व के पुस्तकालयों में सबसे प्राचीन धरोहर है। जब यह तथ्य स्थापित हो जाता है तो

यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदानुकूल वैदिक समाज, वैदिक विचारधारा, वैदिक धर्म, वैदिक संस्कृति-सभ्यता और भाषा भी प्राचीनतम है। अन्य पंथ, सम्प्रदायों, समुदायों की स्थापना तो बहुत थोड़े ही वर्षों से हुई है जबकि सृष्टि रचना को तो लगभग दो अरब वर्ष होने को आये हैं। वैदिक धर्म, वैदिक संस्कृति, वैदिक सभ्यता विचारधारा तो सृष्टि रचना से ही चली आ रही है। वैदिक धर्म के अनुसार–''कर्मसिद्धान्त'' यह वेद की अपनी विशेषता है। यह विशेषता न तो किसी भी दूसरे धर्म में और न ही पौराणिकों में है। अक्सर सभी पंथों और सम्प्रदायों की यह मान्यता है कि किसी पंडित, मौलवी अथवा पादरी से पाठ करवाने से सभी कष्ट, दुष्कर्म दूर हो जाते हैं। वास्तव में ऐसी विचार ही समाज में पाप को जन्म देते हैं। पाप क्षमा या दुष्कर्म दूर होने के विश्वास से जीवात्मा बार-बार पापकर्म करता है। ईश्वर की न्याय व्यवस्था के अनुसार पाप-पुण्य कर्मों का यथावत फल ईश्वर देता है और पाप कर्म के फल को भोगे बिना उसकी निवृत्ति का किसी के पास कोई उपाय नहीं है, यही कटु सत्य है जो किसी के गले से नीचे नहीं उतर पा रहा है।

वेदानुसार धर्म का पालन करने से मनुष्य को तीन लाभ होते हैं–

(1) कष्ट आने पर वह उससे भयभीत नहीं होता क्योंकि वह जानता है मेरे किसी दुष्कर्म का फल है, उसे भोगना ही पड़ेगा।

(2) धर्म का पालन करने वाले के लिये दुःख-सुख समान होते हैं, वह जानता है कि पाप कर्म से दुःख और पुण्य कर्म से सुख मिलता है।

(3) धर्म-अधर्म का ज्ञान हो जाने पर वह सदैव धर्मयुक्त कार्य ही करता है। अनूनं पात्रं निहितं न एतत् – सबके कर्मों का सही लेखा जोखा ईश्वर के पास है। समय आने पर कर्मों के अनुसार अपनी न्याय व्यवस्था के अनुसार सबको, सब पाप-पुण्य कर्मों का यथावह फल देता है, न कम, न ज्यादा। कई कहते हैं ईश्वर के घर देर है, अन्धेर नहीं। परन्तु यह भी उचित नहीं है। ईश्वर के घर न तो देर है और न ही अन्धेर है। वह समय आने पर

सबको यथावत् फल देता है। यदि ईश्वर के घर देर हो गई तो ईश्वर न्यायकारी कहाँ रहा। यह धारणा गलत है।

श्री धर्मपाल कपूर जी ने धर्म सम्बन्धी प्रकरणों पर प्रकाश डाला है। निश्चय ही यह पुस्तक स्वाध्यायशील व्यक्तियों का सत्य धर्म पथ पर चलने का मार्ग दर्शन करेगी और कार्यों को धर्मपूर्वक करने का सन्देश पाठकों को अवश्य देगी। श्री धर्मपाल कपूर जी के मेहनत, लगन, उदारता की मैं प्रशंसा करता हूँ और उनके दीर्घायु एवं निरोगता की ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ।

**लाल चन्द चौहान**
से.नि. राज्य विकास अधिकारी,
कोठी नं. 591, सैक्टर 12,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
मोबाइल : 8557057170
मोबाइल : 7508201740

# विशेष सूचना

1. स्वाध्याय, मनन और आत्मसात् ।
2. पाठकगण पुस्तक पढ़ने के पश्चात् किसी भी स्वाध्यायशील मित्र को इसे देने की कृपा करें ।
3. कोई भी जिज्ञासु अपनी इच्छानुसार इसकी प्रतियाँ फोटोस्टेट करवा कर स्वाध्यायशील मित्रों में प्रचार-प्रसार के लिये बाँट सकता है ।
4. पुस्तक केवल प्रचारार्थ लिखी गई है और सदुपयोग ही इसका मूल्य है ।
5. सर्वाधिकार लेखकाधीन ।

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मो० : 9356301618

# विषयसूची


| क्र.सं. | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|
| 1. | धर्म के चार मुख्य चरण | 1 |
| 2. | वैदिक धर्म की मुख्य विशेषताएं | 9 |
| 3. | धर्म के मुख्य लक्षण | 12 |
| 4. | धर्म के आठ लक्षण | 29 |
| 5. | युग धर्म के दस लक्षण | 30 |
| 6. | धर्म और राजनीति | 38 |
| 7. | वस्तुतः धर्म क्या है? | 39 |
| 8. | धर्म उपयोगी भी है एवं आवश्यक भी है | 43 |
| 9. | धर्म के बिना हमारा काम नहीं चलेगा | 47 |
| 10. | धर्मप्रधान अर्थ ही कल्याणकारी है | 51 |
| 11. | धर्म क्यों उपयोगी और आवश्यक है? | 56 |
| 12. | धर्म का मुख्योद्देश्य प्रकाश में आये | 59 |
| 13. | धर्म का सच्चास्वरूप | 64 |
| 14. | धर्म का स्वरूप कैसा हो? | 70 |
| 15. | धर्म अफीम की गोली नहीं | 76 |
| 16. | धर्मदर्शन के चार मूलभूत सिद्धान्त | 83 |
| 17. | नैतिकता की खरी कसौटी | 91 |
| 18. | कल्याण का मार्ग | 95 |
| 19. | धर्म के नाम पर मानवता का अभाव | 99 |
| 20. | राजनैतिक क्षेत्रों में धर्म का नितांत अभाव | 102 |
| 21. | धर्म एक – स्वरूप सम्प्रदाय अनेक | 106 |
| 22. | सर्वधर्म समन्वय क्यों और कैसे? | 109 |
| 23. | सब धर्मों की मौलिक एकता | 113 |
| 24. | संयम बरतें सुखी रहें | 119 |
| 25. | अध्यात्म जगत् के पंचशील | 123 |
| 26. | धर्माचरण का मर्म | 125 |
| 27. | सुखी जीवन का एकमात्र आधार धर्म | 129 |

# 1. धर्म के चार मुख्य लक्षण

**धर्म ही जाता रहा, तो जीवन रहा किस काम का।**
**स्वास्थ्य ही जाता रहा तो धन रहा किस काम का।।**

श्री राम वनगमन से पूर्व लक्ष्मण जी को धर्मोपदेश देते हुए कहते हैं–

**धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।**
**धर्म संश्रितमेतच्च पितुर्वचनमुत्तमम।।**

–वाल्मीकि रामायण (अयोध्या काण्ड 21.41)

संसार में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। धर्म में ही सत्य प्रतिष्ठित है। धर्मानुकूल होने के कारण पिता जी की आज्ञा श्रेष्ठ है। मैं पिता जी की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। हे भाई! तू भी इस अनुगमन करने वाली बुद्धि को त्याग एवं धर्म का आश्रय ग्रहण कर।

धर्म शब्द, धृत्र धरणे धातु से बना है, जिसके अर्थ हैं धारण करना। वे सत्य एवं अटल सिद्धान्त या ईश्वरीय नियम जिनके धारण करने से सारा संसार थमा हुआ है, पृथ्वी सत्य पर टिकी है और ईश्वर की रची सृष्टि के प्रत्येक कार्य में जो सत्य रूपी नियम पूर्णरूप से प्रत्येक वस्तु में रमा हुआ है, वही धर्म है। वस्तुतः धर्म का भाव है जो जीवन में धारण करने योग्य हो एवं समूची मानवता के लिये कल्याणकारी हो। किसी भी वस्तु का धर्म उसका गुण, कर्म और स्वभाव होता है। धर्म के सिद्धान्त किसी मानव द्वारा बनाये नहीं जाते अपितु प्रकृति द्वारा स्वयं निर्धारित है। धर्म का अर्थ है सद्भाव। इस प्रकार जब तक जीवन में सद्भाव नहीं आता तब तक जीवन में धर्म का अवतरण नहीं होगा। जैसे अग्नि का धर्म उष्णता, जल का शीतलता, सूर्य का

धर्म प्रकाश देना, मानव का धर्म दया, परोपकार आदि । अतः शुद्ध मन का आचरण ही धर्म है । धर्म जीवन की मौलिक प्रवृत्ति है । पूजाप्रतिमा की जाती है, धर्म की पालना की जाती है ।

दिखावे के बाहरी चिह्न किसी को धर्मात्मा नहीं बनाते । सिर पर जटा, चोटी या पगड़ी रखना, गले में कंठी माला या जनेऊ पहनना, लम्बी दाढ़ी रखना, काला पीला चोगा, भगवे वस्त्र पहनना, माथे पर टीका या तिलक लगाना, हाथ में तलवार, त्रिशूल या चिमटा रखना, शरीर पर राख लगाना आदि बातें किसी को धर्मात्मा नहीं बनाती अर्थात् धर्म का इन चीजों से कोई सम्बन्ध नहीं है । ये बातें तो आडम्बर तथा दम्भ है । शुभ गुणों के आचरण का नाम ही धर्म है ।

आजकल संत-महात्माओं ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये धर्म के नाम पर विभिन्न सम्प्रदाय एवं पंथ चला रखे हैं । धर्म की परिभाषा तक नहीं जानते, धर्म के नाम पर जनता को गुमराह कर अपनी आजीविका चला रहे हैं । धर्म किसी जाति, समुदाय का अलग-अलग नहीं है । धर्म सब का एक है चाहे वह किसी भी जाति से सम्बन्ध रखता हो । जाति मानव द्वारा बनाई गई है । प्रभु प्रदत केवल एक ही जाति है और वह है मानव जाति । मानव मानव ही रहता है, चाहे वह अपनी पोशाक अपने मनपसन्द कैसी भी पहन ले उससे मानवता व मानव का धर्म नहीं बदल जाता ।

धर्म पालन करने वाले व्यक्तियों पर सदा विपत्तियों के बादल ही छाये रहते हैं । जैसे श्रीराम को 14 वर्ष का वनवास काटना पड़ा । श्रीकृष्ण को महाभारत का युद्ध लड़ना पड़ा । महर्षि दयानंद को 17 बार विषपान करना पड़ा आदि । इससे प्रतीत होता है कि धर्म व्यक्ति को विपत्तियों से नहीं बचाता अपितु विपत्ति सहन करने की शक्ति प्रदान करता है, यदि व्यक्ति धर्म को

अपने आचरण में उतार ले । जैसे एक शिष्य ने गुरु से निवेदन किया कि धर्म का उसे कुछ लाभ नहीं हो रहा । गुरु ने शिष्य को आदेश दिया कि एक लोटा शराब ले आओ । वह एक लोटा शराब ले आया । फिर गुरु ने आदेश दिया कि शराब का एक-एक घूंट मुँह में भरते जाओ और कुल्ला करते जाओ । उसने ऐसा करके शराब का सारा लोटा खाली कर दिया ।

इसके पश्चात् गुरु ने शिष्य से पूछा क्या आपको शराब का नशा हुआ है? उसने उत्तर दिया, बिल्कुल नहीं । इसी प्रकार जब तक धर्म को गले से नीचे नहीं उतारोगे अर्थात् व्यवहार में नहीं लाओगे तब तक धर्म का कोई लाभ नहीं होगा ।

वस्तुतः धर्म के निम्नलिखित चार चरण माने गये हैं ।

**1. सत्य** – सत्य एवं धर्म पर्यायवाची शब्द हैं । इसका यह भाव है कि व्यक्ति को सदा सत्य बोलना चाहिये । व्यर्थ में झूठ कभी नहीं बोलना चाहिये । परन्तु जहाँ पर अपना कोई स्वार्थ न हो और असत्य बोलने से किसी के प्राणों की रक्षा होती हो, तो वहाँ पर असत्य का सहारा लिया जा सकता है ।

**2. दया** – दया भी धर्म का परमावश्यक चरण है । हमें असहायों, अपाहिजों पर दया करनी चाहिये । परन्तु प्रत्येक व्यक्ति दया का पात्र भी नहीं होता और उस पर दया नहीं करनी चाहिये । दया करने से मानव की आत्मा उदार बनती है । पापी को दया करके क्षमा करना दया नहीं है ।

**3. दान** – दान धर्म का तीसरा चरण है । दान भी सुपात्र को देना चाहिये न कि कुपात्र को । दान देकर अभिमान कभी भी नहीं करना चाहिये । अपितु यह समझना चाहिये कि परमात्मा ने मुझे इस योग्य बनाया है तभी प्रभुकृपा से मैं दान दे सकता हूँ ।

**4. श्रम** – श्रम भी धर्म का चौथा चरण है । हमें श्रम करके ही धनोपार्जन करना चाहिये । रिश्वत व बेईमानी से धन कमाना धर्म के

नियमानुसार नहीं है । वह पाप की कमाई मानी जाती है । आलसी व्यक्ति न तो अपना भला कर सकता है न ही किसी और का । आज श्रम लंगड़ा होकर रह गया हे, क्योंकि अधिकतर व्यक्ति धन लेकर भी ईमानदारी से काम नहीं करते हैं । अतः जहाँ भी कोई व्यक्ति है उसे संसार की उन्नति के लिये ईमानदारी से अपना काम करना चाहिये ।

अतः जिस व्यक्ति में सत्य, दया, दान और श्रम की भावना है वही धार्मिक व्यक्ति है और सच्चा मानव है । आज सत्य, दया, दान बहुत कम व्यक्तियों में है ।

इस प्रकार समाज में हज़ारों पंथ, मत और सम्प्रदाय हैं । परन्तु इन सबसे छः विशेष माने जाते हैं । हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म, पारसी धर्म और इस्लाम धर्म । इन सब धर्मों में हिन्दू धर्म प्राचीन धर्म है और इस्लाम धर्म सब से हाल का है । हिन्दू धर्म के मानने वाले भारत और नेपाल को छोड़ कर शेष संसार में बहुत कम है । संसार में सबसे अधिक संख्या ईसाईयों की लगभग 230 करोड़ है । दूसरे नम्बर पर मुसलमानों की संख्या 150 करोड़ है । सबसे कम संख्या यहूदियों और पारसियों की है । हिन्दूओं के वेद, ईसाईयों की बाईबल, मुसलमानों की क़ुरान, बौद्धों की धम्मपद, यहूदियों की तौरात और पारसियों की जिन्दअवस्ता धार्मिक पुस्तकें हैं । इन छः पुस्तकों में ऋग्वेद संसार के पुस्तकालयों में प्राचीनतम ग्रंथ है और क़ुरान सबके हाल की पुस्तक है ।

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि धर्म सबका एक होता है । किसी सम्प्रदाय, पंथ, समुदाय से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है । सनातनधर्म, सिक्खधर्म, इस्लामधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म, ईसाईधर्म यें धर्म नहीं हैं अपितु पंथ, सम्प्रदाय हैं । धर्म तो एक वैदिक धर्म है जो वेद आधारित है । इस प्रकार धर्म का क्षेत्र सार्वकालिक एक सार्वदेशिक होता हैं अतः धर्म एक होता है ।

परन्तु सम्प्रदाय अनेक होते हैं। वैदिक धर्म सत्य एवं प्रेम का धर्म है। यह हृदय का धर्म है। यह सेवा, बलिदान और त्याग का धर्म है। यह नेकी, दयालुता और सहनशीलता का धर्म है।

अतः मानव की प्रत्येक क्रिया धर्म से जुड़ी हुई है। यदि उसके साथ धर्म न हो, वह मानव न रहकर दानव बन जाता है। धर्म के अभाव से विज्ञान विनाश के कगार पर जाकर खड़ा हो जाता है। राजनीति स्वार्थपूर्ण बनकर रह जाती है और अर्थशास्त्र निर्धनों का शोषण करता है। शुक्राचार्य और चाणक्य की राजनीति धार्मिक थी। आज की राजनीति की भाँति स्वार्थपूर्ण नहीं थी। धर्म के दर्शन हमें होते हैं। हमें धार्मिक कार्यों से जैसे गुरुजनों की आज्ञापालन, माता-पिता की सेवा और पुरुषार्थ एवं परिश्रम में। इसके विपरीत धर्म, मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, गिरिजा आदि धार्मिक स्थानों में नहीं है, अपितु वह प्रेम, परोपकार, निष्काम सेवा, सहानुभूति आदि में है। वह पूजा, कीर्तन आदि में भी नहीं है क्योंकि ये धर्म के बाह्य आडम्बर हैं। धर्म का सम्बन्ध शरीर, मन, आत्मा, समाज और विश्वकल्याण से है। अच्छे कामों के आचरण का नाम ही धर्म है। इससे मानव व समाज की प्रगति होती है और सच्चा सुख मिलता है। इस प्रकार मानवधर्म से मृत्यु को पार कर ज्ञान से अमरता को पाता हैं यही उसका धर्म है। मनु जी महाराज मनुस्मृति में लिखते हैं–

**एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽपयनुयाति यः।**
**शरीरिण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति।।** 8.17

धर्म ही एकमात्र मित्र है, जो मरने पर भी साथ जाता है और सब तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है।

इसके अतिरिक्त धर्म की महिमा इस प्रकार प्रस्तुत की गई है–

**धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे**
**नारी गृहद्वारे जनाः श्मशाने,**
**देहश्च चितायाम्,**
**परलोक मार्गे धर्मातुगो गच्छति जीव एकः ।।**
**धन धरा के बीच में सारा का सारा गढ़ा रह जायेगा ।**
**पशु भी बंधे रह जायेंगे जब कूच का दिन आयेगा ।।**
**नारी घर के द्वार तक साथ देगी इस लोक में ।**
**मित्रगण मरघट के आगे मुँह नहीं दिखायेंगे । ।**
**देह भी तेरी चिता में यूं ही जल भुन जायेगीं ।**
**अंत में धर्म सच्चा सखा तेरे साथ जायेगा ।।**

धन धरणी में मध्य गड़ा रह जायेगा, पशु भी बंधे रह जायेंगे, जब मृत्यु का दिन आयेगा स्त्री द्वार तक ही साथ देगी, मित्र श्मशान तक ही जायेंगे । शरीर चिता में जलकर राख हो जायेगा । अब तू ही बता परलोक में तेरे संग क्या जायेगा? मृत्यु के उपरांत तेरा एक ही मित्र है वह है धर्म जो तेरे साथ जायेगा । इसलिये संसार में रहकर धर्मयुक्त और शुभ कर्म कर ताकि अंत में तुझे पछताना न पड़े । महाभारत में कहा गया है–

**यतो धर्मस्ततो जयः ।**

जहाँ धर्म है वहीं विजय है । परन्तु जब समाज में धर्म के प्रति अरुचि हो जाती है जैसे की आज अधिकांश लोगों की धर्म में रुचि नहीं है । अतः समाज में विलासिता और भ्रष्टाचार पराकाष्ठा पर पहुँच गया है । जिस प्रकार रोगी शरीर से कोई पुरुषार्थ सम्भव नहीं होता उसी प्रकार अपक्व मन से भी धर्माचरण करना असम्भव है, जैसे रोगी को सात्विक भोजन अरुचिकर लगता है, वैसे ही अपक्व मन में धर्माचरण में रुचि नहीं रहती ।

जब समाज में धर्म का पतन होता है तो किसी न किसी महापुरुष का प्रादुर्भाव होता है। वह युग की सारी व्याधियों को पहाचानकर चिकित्सा करता है और धर्म की पुनर्स्थापना करता है। वस्तुतः वह अपने युग का भिषक् (चिकित्सक) होता है और वह समयानुसार युग के रोगों का निदान करता है ताकि समाज में धर्म की पुनः स्थापना हो जाये और जनता सुखी जीवन व्यतीत करे। युगपुरुष बाह्य कर्मकाण्ड रूढ़ियों का मोह नहीं करते। वे समाज में आवश्यकता पड़ने पर परिवर्तन करके इसका नव निर्माण करते हैं। एक हिन्दी कवि ने कितना सुन्दर लिखा है–

**लोक लीक तीनों चले, कायर, क्रूर, कपूत।**
**लोक छांडि तीनों चले, शायर, शूर, सपूत।।**

इसी कारण वेदानुयायियों का आदर्श वाक्य है।

**"पाप्मा हतो न सोमः**

अर्थात् पाप नष्ट हो जाये और धर्म की विजय हो।

इसी प्रकार इनका साध्य है–

**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्** –ऋ. 9.63.5

सारे संसार को आर्य बनाना है।

अथर्ववेद में धर्म के विषय में सत्य ही लिखा है–

**ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं व श्रीश्च धर्मश्च**

जहाँ पर धर्म है वही ओज, तेज, सहनशक्ति, बल, वीर्य, वाणी, जितेन्द्रियता और लक्ष्मी शोभा है। धर्मात्मा ही जितेन्द्रिय हो सकता है क्योंकि उसके पास विषयभोग के लिये न ही तो समय होता और न हीं विचार।

परन्तु इसके विपरीत यह दारुण दुर्भाग्य का विषय हे कि धर्म के नाम पर घोर अत्याचार एवं पापाचार हुये। ऐसा इस कारण हुआ कि अत्याचारी शासक धर्म के मर्म को न जान सके और नहीं पहचान सके। हम देखते हैं कि

वैज्ञानिक प्रगति से भयभीत होकर ईसाई पादरियों ने गैलिलियो, कॉपरनिकस एवं ब्रूनो को धर्म की वेदी पर बलि चढ़ा दी। ब्रूनों को 1800 ई. में पोप की आज्ञा से रोम की सड़क पर जीवित जलाया गया क्योंकि उसने कहा था पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसी प्रकार गैलीलियो को आजीवन कारावास में डाल दिया गया था क्योंकि उसने कहा था कि पृथ्वी गोल है जब बाइबल में लिखा है कि पृथ्वी चपटी है। इस प्रकार महर्षि दयानन्द को धर्म एवं सत्य के लिये 17 बार विषपान करना पड़ा। स्वामी श्रद्धानन्द जी को धर्म प्रचार के कारण अपने सीने में गोली खानी पड़ी। ऐसा सब लोगों की संकीर्णता और मूर्खता के कारण हुआ।

# 2. वैदिक धर्म की मुख्य विशेषताएं

हम देखते हैं कि संसार में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि अनेक ही सम्प्रदाय हैं। परन्तु इन सब में से वैदिक धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसे वास्तविक अर्थों में धर्म कहा जा सकता है जिसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख अधोलिखित बिन्दुओं में किया जाता है।

**1. प्राचीनतम धर्म –** बौद्धमत और जैनमत लगभग 2500 वर्ष पूर्व चला। ईसाई मत लगभग 2000 वर्ष पुराना और इस्लामी वर्ष 1400 वर्ष पुराना है। परन्तु वैदिक धर्म इन सबसे पूर्व लगभग 2 अरब वर्ष पुराना है। इसके उपरांत ही नये-नये मतों का आविर्भाव हुआ। जैसे सिक्खमत, राधास्वामी, निरंकारी, ब्रह्मकुमारी, शाक्त, वैष्णव, शैव आदि ये मत, पंथ, सम्प्रदाय हैं।

**2. कर्मवादी धर्म –** वैदिक धर्म कर्मवादी धर्म है न कि भाग्यवादी। यह पुरुषार्थ में विश्वास रखता हैं यह भाग्य के भरोसे अपने को नहीं छोड़ता। यह धर्म **वीरभोग्या वसुन्धरा** का जाप करता है। यदि इस विचारधारा का आर्य अनुसरण करते तो सोमनाथ मंदिर को 1025 ई. में महमूद गजनवी नहीं लूट सकता था। अंधविश्वास के कारण सोमनाथ का मन्दिर लूटा गया, साथ में पंडों को भी बन्दी बना कर ले गये और उनसे अमानवीय कार्य करवाये और गजनी में दो-दो टके में बेचा गया।

**3. आशावादी धर्म –** यह आशावादी धर्म है न कि निराशावादी। यह कर्म करने में आस्था रखता है न कि उसके फलप्राप्ति में। जीवन में लक्ष्य की पूर्ति के लिये वह एक जन्म के व्यतीत होने पर निराश नहीं होता। वह आगामी अन्य जन्मों में भी विश्वास रखता है जब तक कि उसे अपने उद्देश्य में सफलता न मिल जाये। वह संसार को असार नहीं समझता। वह अधोलिखित उक्ति को स्वीकार नहीं करता।

**अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम ।**

**दास मलूका कह गये सबके दाता राम । ।**

यह आलसी अकर्मण्यों की कहावत है ।

**4. तर्कवादी धर्म –** यह धर्म पूर्णतः तर्कवादी एवं वैज्ञानिक है जो बात तर्क एवं विज्ञान पर पूरी नहीं उतरती उसे स्वीकार नहीं करता जैसे पृथ्वी गोल है न कि चपटी । वह सूर्य के चारों ओर घूमती है न कि सूर्य उसके चारों और घूमता है आदि । तर्कवादी धर्म होने के कारण ही प्रस्तुत धर्म विज्ञान एवं धर्म का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करता है । अलबर्ट आईंस्टाइन ने लिखा है–

**Science without religion is lame and religion without science blind**

धर्म के बिना विज्ञान लंगड़ा है और विज्ञान के बगैर धर्म अन्धा है । धर्म ने अनुभव की बात की और विज्ञान के प्रयोग की परन्तु अनुभव शाश्वत है प्रयोग नहीं ।

**5. श्रद्धावादी धर्म –** यह धर्म श्रद्धावादी है न कि दासतावादी । यह अपने सिद्धान्त किसी अन्य व्यक्ति पर जबरदस्ती थोंपता नहीं अपितु उसे श्रद्धा और आशा से मनवाता है ।

**6. त्यागवादी धर्म –** यह त्यागवादी धर्म है न कि भोगवादी । इसके अनुसार मानव जीवन के चार आश्रमों–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास–में विभक्त किया जाता हैं इनमें से केवल गृहस्थ आश्रम ही भोग के लिये है और अन्य तीन आश्रम त्याग के लिये हैं ।

**7. ईश्वरवादी धर्म –** यह धर्म ईश्वरवादी है न कि पैग़म्बरवादी । परमपिता तक पहुँचने के लिये किसी अवतार, पैग़म्बर, गुरु आदि की भी आवश्यकता नहीं । मानव अपने ज्ञान, भक्ति, त्याग आदि से परमपिता परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है । वह भक्ति का भूखा है न कि सिफारिश का । क्योंकि वह गुरुओं का गुरु है । इस लिये उसकी भक्ति में

रामकृष्ण, ईसा, मुहम्मद का कोई भी आवश्यकता नहीं है ।

**8. विश्वासवादी धर्म –** यह धर्म विश्वासवादी है न कि सम्प्रदायवादी । **कृण्वन्तो विश्वमार्यम्** इसका मुख्योद्देश्य है । आर्य समाज का छठा नियम इस कथन की पुष्टि करता है जैसे–संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ।

**9. समाजवादी धर्म –** यह समाजवादी धर्म है न कि व्यक्तिवादी । कुछ मत केवल अपना ही राग अलापते हैं और अपनी ही डफली बजाते हैं । परन्तु यह सर्वहितकारी धर्म है । इसका आधार है **सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझना तथा सर्वहितकारी नियम पालने में सब स्वतंत्र रहें ।**

**10. अध्यात्मवादी धर्म –** यह अध्यात्मवादी धर्म है न कि प्रकृतिवादी, क्योंकि यह आत्मा एवं परमात्मा की सत्ता में आस्था रखता है और अन्तर्मुखी भी है । यह नास्तिक एवं विकासवादी के समान बहिर्मुख नहीं है ।

# 3. धर्म के मुख्य लक्षण

मनु जी ने मानवधर्म के विभिन्न दस लक्षणों का वर्णन मनुस्मृति में इस प्रकार किया है–

**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।**
**धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।** –6.92

धैर्य, क्षमा, दम (मन का वशीकरण) चोरी का त्याग, पवित्रता, दश इन्द्रियों का वशीकरण, पवित्र बुद्धि, विद्या, सत्य और क्रोध का त्याग, ये दश धर्म के लक्षण हैं । इन दश लक्षणों से युक्त मानव ही धर्मात्मा है । धर्म के इन दश लक्षणों की विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है–

**(1) धैर्य –** अपने मन में धैर्य, संतोष, सहनशीलता के गुणों को लाना और संसार के हर प्रकार की विपत्तियों, दुःखों व कष्टों के आने पर भी न घबराना और हर समय सहनशक्ति द्वारा अपने मन को दृढ़ बनाना तथा परमात्मा पर दृढ़ विश्वास व आस्था रखते हुये सदा सत्य व धर्म के मार्ग को अपनाना यह धर्म का प्रथम अंग है । अधैर्य मान की विवेकशक्ति को नष्ट कर देता है जबकि धैर्य कष्ट का सामना की क्षमता प्रदान करता है ।

इस विषय में धैर्य के धनी स्वामी दयानन्द जी के जीवन का एक उत्कृष्ट उदाहरण दृष्टव्य है । स्वामी दयानन्द जी लाहौर से अमृतसर पधारे और सरदार भगवान् सिंह के मकान में ठहरे । पाखंडी पंडितों ने इस बार भी उनका विरोध किया । एक दिन कुछ पंडित तिलक लगाकर अपने शिष्यों के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये आये और अकड़कर स्वामी दयानन्द जी के सामने बैठ गये । शास्त्रार्थ तो उन्हें क्या करना था, उनके शिष्यों ने ईंट पत्थर फेंकने आरम्भ कर दिये । सारे सभा स्थान को धूलि वर्षा से भर दिया । स्वामी जी के इस अपमान को देखकर उन्हीं के शिष्यगण अत्यंत क्रोधित हो गये । परन्तु उन्हें शांत करते हुए स्वामी जी ने कहा–

**मत मदिरा से उन्मत्त जनों पर कोप नहीं करना चाहिये। हमारा काम वैद्य का है। उन्मत्त मनुष्य को वैद्य औषध देता हैं निश्चय जानिये आज जो लोग मुझ पर ईंट, पत्थर और धूल बरसाते हैं वही लोग पछताकर पुष्प वर्षा करने लग जायेंगे।**

रॉबर्ट ब्रूस 14 बार युद्ध में हारा। एक दिन उसे एक मकड़ी को जाला बुनते देखा जो 13 बार असफल होने के बाद निराश नहीं हुई और 14वीं बार उसको सफलता मिली। इस दृश्य ने रॉबर्ट ब्रूस के दिल में अदम्य उत्साह भर दिया और अंत में उसने युद्ध में सफलता प्राप्त की। इसी प्रकार अमरीकी राष्ट्रपति अब्राहमलिंकन चुनावों में 14 बार हारे और इसके पश्चात् उन्हें विजय प्राप्त हुई। यह सब असीम धैर्य के कारण हुआ।

वस्तुतः जो लोग धैर्य का अंचल पकड़कर चलते हैं उन्हें बड़े बड़े दुःख उठाने पड़ते हैं। बड़े-बड़े कंटीले रास्तों पर चलना पड़ता है। यह सच है कि अपने धैर्य से ही दुःखों के उस समुद्र को पार कर जाते हैं। अपने रास्ते के कांटों के फूल बना देते हैं। वे अपने धैर्य से ऐसे हरे भरे मैदान में पहुँच जाते हैं। जहाँ सुखों के फूल खिले होते हैं जहाँ हर्ष और आनन्द की शीतल हवा चलती रहती है।

धैर्य से आत्मा में बल आता है। स्वभाव में मधुरता आती है, क्रोध और ईर्ष्या का विनाश एवं अहंकार का दमन होता है, जीभ और हाथ काबू में रहते हैं और प्रलोभनों का निराकरण होता है। धैर्य की महत्ता का वर्णन करते हुए चाणक्य ''चाणक्यनीति'' में लिखते हैं–

**शांति तुल्यं तपो नास्ति न संतोषात् परं सुखम्।**
**न तृष्ण्याः परो व्याधिर न च धर्मो दयापरः।।**

शक्ति के समन तप नहीं, संतोष के समान सुख नहीं, तृष्णा के समान कोई रोग नहीं, दया के समान कोई धर्म नहीं। कबीर ने भी कहा है–

**सीलबंद सबसे बड़ा सर्ब रतन की खान।**

**तीन लोक की सम्पदा, रही सील में आन ।।**

**(2) क्षमा** – अपने में पूर्ण शक्ति होने पर भी किसी अपराधी के प्रति बदले का भाव मन में न लाना अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक दोषी के दोष को क्षमा कर अपनी उदारता दिखलाना और सर्वदा द्वेष और बदले के भाव का त्याग करते हुए अपने हृदय को विशाल बनाना, क्षमा कहलाता है ।

वस्तुतः स्वामी दयानंद के सारे जीवन में क्षमा के अनेक उदाहरण मिलते हैं । एक बार की बात है कि अनूप शहर में स्वामी दयानंद जी को किसी ब्राह्मण ने पान में विष दे दिया । सैयद मुहम्मद तहसीलदार स्वामी जी का परम भक्त था । उसने हत्यारे को पकड़कर स्वामी के समक्ष प्रस्तुत किया स्वामी जी ने कहा–

**मैं संसार को क़ैद कराने नहीं अपितु क़ैद से छुड़ाने आया हूँ । यदि दुष्ट अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता तो हम अपनी श्रेष्ठता का परित्याग क्यों करें ?**

ये शब्द सुनकर तहसीलदार रोमांचित हो गये । उन्होंने आज तक क्षमा का ऐसा उदाहरण नहीं देखा था । वह स्वामी जी को प्रणाम कर चला गया और जाते ही उस ब्राह्मण को स्वतंत्र कर दिया ।

क्षमा मानव के हृदय का सबसे बड़ा गुण हैं जिस प्रकार पूर्णिमा का चन्द्रमा निष्कलंक होता है, उसी प्रकार क्षमा के गुण का अंकुर उसी हृदय में पैदा होता है, जो पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति निष्कलंक होता है । जिस किसी हृदय में क्षमा का गुण पैदा होता है उसमें वैर, विरोध, ईर्ष्या, हिंसा, प्रतिहिंसा आदि कोई विकार उत्पन्न नहीं होता । वह सचमुच चन्द्रमा की भाँति प्रबल होता है ।

वे क्षुद्र और अहंकारी जन बड़े अभागे होते हैं जो क्रोध और क्षमा करने के दिव्यानन्द से वंचित रहते हैं । अतः हमें इस दैवी गुण को अपने जीवन में अवश्य ही धारण करना चाहिये ।

क्षमा की महत्ता का वर्णन करते हुये चाणकय ने ''चाणक्यनीति'' में कितना सुन्दर लिखा है–

**कोकिलानां स्वरो रूपम् स्त्रीणां रूपम् पतिव्रतम् ।**
**विद्यारूपम् कुरूपाणां क्षमा रूपम् तपस्विनाम् । ।**

कोयल का रूप स्वर, स्त्रियों का रूप पतिव्रता, कुरुपों का रूप विद्या और तपस्वियों का रूप क्षमा है ।

इसी प्रकार कबीर ने क्षमा की महत्ता का वर्णन करते हुये सत्य ही कहा है–

**जहाँ दया तहँ धर्म है, जहाँ लोभ तहँ पाप ।**
**जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ छिमा तहँ आप । ।**

इसके विषय में आचार्य श्रीराम शर्मा ने अपनी पुस्तक ''धर्म तत्त्व का दर्शन और मर्म'' में लिखा है–

**अनजान, भुलक्कड़, अशिष्ट स्तर के बाल बुद्धि लोगों को क्षमा कर दिया जाना चाहिये, किन्तु जो जानबूझ कर दुष्टता पर उतारू है और अपने अहंकार के उन्माद में चाहे जिस पर टूट पड़ते हैं और शोषण अपहरण का दुष्कृत्य करते रहने का स्वभाव बना लेते हैं उन्हें जो उपाय उपयुक्त प्रतीत हो उसे अपनाकर सुधारने के लिये बाधित तो किया ही जाना चाहिये । यहाँ क्षमा का उपयोग साँप को दूध पिलाने जैसा अहितकर सिद्ध होगा ।**

**(3) दम–** अपने मन को अपने अधीन बनाना या इस पर विजय पाना और अपनी मानसिक वृत्तियों व इच्छाओं को वश में लाना और अपने को विषयों की आसक्ति व इनके आक्रमण से बचाना और मन पर अपना अधिकार रखते हुये व अपनी आंतरिक उन्नति करते हुये सदा सन्मार्ग पर चलना दम कहलाता है ।

इसके विषय में महाराज छत्रसाल की दमनशीलता का उत्कृष्ट उदाहरण उल्लेखनीय है । महाराज छत्रसाल प्रायः एकाकी नगर में घूमते थे । वे प्रजा के दुःख दर्द की बात भी पूछा करते थे । उनका शरीर अत्यन्त भव्य एवं सुन्दर था । उनके विशाल नयन, विशाल बाहु, सुदीर्घ वक्ष और चौड़ा

ललाट था । उनके इस अद्‌भुत सौंदर्य पर एक स्त्री मोहित हो गई । इस कारण उसने कई बार अपने हाव भाव से महाराज को आकर्षित करना चाहा । परन्तु वह तो स्त्रियों को अपने समक्ष देखकर दृष्टि नहीं उठाते थे । एक दिन की बात है जब महाराज उस सुन्दरी के घर के पास से निकले, तो वह आकर बोल उठी–''मैं बहुत दुःखिया हूँ ।'' महाराज ने पूछा–''आप को क्या दुःख है, देवी जी ?'' वह बोली, ''महाराज जी मेरा दुःख दूर करने का बचन दो तभी मैं अपना दुःख प्रकट करूँगी । महाराज ने उत्तर दिया–मुझसे यदि सम्भव हो सकता तो आपका दुःख अवश्य दूर करूँगा । उस देवी ने कहा–''मेरी कोई सन्तान नहीं है और मेरे पतिदेव संतानेत्पत्ति नहीं कर सकते । इस कारण मुझे आप जैसा पुत्र रत्न चाहिये ।''

महाराज यह बात सुनकर आश्चर्यचकित रह गये और उन्होंने हाथ जोड़कर उत्तर दिया–माता ! आज से यह छत्रसाल ही आपका पुत्र है ।'' वस्तुतः महाराज ने उसे राजमाता के समान स्वीकार कर लिया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन का संयम शरीर का आभूषण और प्रकाश है । मन व इन्द्रियों के संयम द्वारा शरीर के दिव्यस्वरूप की रक्षा करने वाले लोग समाज के मार्ग दर्शक होते हैं । मन, वचन और कर्म तीनों के, संयम से ही अभीष्ट की सिद्धि होती है । मन का संयम इन्द्रियों में, वचन का संयम मन, बुद्धि के संयम में, कर्म का संयम, मन, बुद्धि और आत्मा तीनों के संयम में परिलक्षित होता है ।

यह ध्यान रखने की बात है कि हर सफलता का रास्ता काँटों से भरा है । परन्तु जिसके मन में लगन है, अदम्य उत्साह है वही इस पथ पर आगे बढ़ सकता हैं जो आगे बढ़ गये हैं वे अमर हो गये । इस मंजिल के कष्टों, दुःखों और बाधाओं को जिसने पार कर लिया उसे इसका उत्तम फल मिलता है ।

**(4) अस्तेय**–अस्तेय का अर्थ है चोरी का त्याग करना । अपने ही पदार्थों में संतुष्ट रहना । जैसे कि महर्षि दयानंद सरस्वती कहते हैं–

**बिना आज्ञा या छल कपट विश्वासघात से, किसी व्यवहार अथवा वेद विरुद्ध उपदेश से पर पदार्थ को ग्रहण करना, चोरी और उसको छोड़ देना साहूकारी है।**

इसके विषय में एक ईमानदार श्रमिक बालक की एक शिक्षाप्रद कहानी इस प्रकार है कि किसी धनी के घर में एक दिन धुंआसा साफ करने के लिये एक श्रमिक बालक को बुलाया गया। वह सफाई करने लगा, वह जिस कमरे का धुँआसा उतार रहा था, उसमें भाँति-भाँति की सुन्दर वस्तुएं सजा रखी थी। उस समय वह अकेला ही था। अतः प्रत्येक वस्तु को उठा उठाकर देखने लगा। इतने में उसे एक बड़ी हीरों मोतियों से जड़ी हुई सोने की घड़ी दिखाई दी। उसने कहा—काश! ऐसी घड़ी मेरे पास होती। उसके मन में पाप आ गया। उसने घड़ी चुराने का मन बना लिया। परन्तु एक क्षण के उपरांत वह घबरा कर कहने लगा—

**मेरे मन में कितना बड़ा पाप आ गया। यदि मैं चोरी करते हुये पकड़ा गया तो मुझे जेल की हवा खानी पड़ेगी। यदि ऐसा न हुआ तो परम पिता परमात्मा के हाथ से तो कभी भी नहीं बच सकता, क्योंकि हम परमपिता परमात्मा को नहीं देखते परन्तु वह हम सबको देखता है क्योंकि वह सर्वत्र है।**

अतः उसने घड़ी को यथा स्थान पर रख दिया और कहा—''लालच बुरी बला है।'' इसी कारण मेरे मन में पाप आया। वस्तुतः चोरी करके धनी बनने की अपेक्षा धर्म पर चलकर निर्धन रहना कहीं अच्छा है। यह सब घर की मालकिन देख रही थी और उसने आकर कहा तूने घड़ी क्यों नहीं ली। लड़के की जबान बंद हो गई और उसके नेत्रों से जलधारा प्रवाहित होने लगी। मालकिन उसकी ईमानदारी पर अत्यंत प्रसन्न हुई और कहने लगी कि तू निर्धन होते हुये भी कितना ईमानदार है। मैं तेरी पुस्तकों और भोजन का प्रबन्ध कर दूँगी और कल से तू स्कूल अध्ययन करने के लिये जाना। यही तेरी नेकी और ईमानदारी का इनाम है।

जो वस्तु छल, कपट आदि बुरे साधनों से प्राप्त की जाती है वह अपने पास नहीं रहती और यदि रहती है तो वह फलदायक नहीं होती। इसके साथ अभिशाप जुड़ा है जो धन या सम्पत्ति की बर्बादी की अवस्थायें उत्पन्न कर देता है। जिस दुष्ट प्रवृत्ति के कारण वह धन सम्पदा प्राप्त की जाती है, वही दुष्ट प्रवृत्ति उसके व्यय के पापमय उपायों का सृजन कर देती है। इसके विषय में महात्मा गांधी ने कितना सुन्दर लिखा है–

**दूसरे की चीज की उसकी इज़ाज़त के बिना लेना तो चोरी है, लेकिन मनुष्य अपनी कम से कम जरूरत के अलावा जो कुछ लेता है या संग्रह करता है वह भी चोरी है।**

चोरी अपराध है जिसका दण्ड अवश्य मिलता है चाहे वह राज्य द्वारा मिले या आत्मा के द्वारा अपने मन और आत्मा को पवित्र बनाये रखने के लिये किसी भी प्रकार की चोरी, छल, कपट या विश्वासघात से पृथक् रहना चाहिये।

**(5) पवित्रता –** शारीरिक स्वच्छता अर्थात् शरीर के बाह्य भाग को सादा किन्तु शुद्ध वस्त्रों द्वारा स्नान आदि से स्वच्छ व पवित्र बनाना, मानसिक व आंतरिक शुद्धि के लिये काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अभिमान, राग, द्वेष, छल, कपट, दम्भ आदि दुर्गुणों को हटाना और जीवन के सर्व अंगों अर्थात् आचार, विचार, व्यवहार, मन, वाणी व दृष्टि को पूर्ण शुद्ध व पवित्र बनाना धर्म का पाँचवां अंग है।

शौच के विषय में एक अत्यन्त शिक्षाप्रद कहानी इस प्रकार है। किसी ग्राम में एक किसान के पास एक बिल्ली थी और वह सदा किसान के साथ सोती थी। एक दिन किसान के पुत्र ने अपने पिता जी से कहा कि आज रात को मैं आपके साथ सोऊँगा। किसान ने उत्तर दिया कि तुम्हें खुजली होने के कारण अलग सोना होगा। पुत्र ने पिता से पूछा कि खुजली मुझे क्यों हुई बिल्ली को क्यों नहीं हुई? किसान ने कहा–इसका उत्तर मैं आपको कल दूंगा। अगले दिन जब किसान ने बिल्ली को कुछ अधिक दूध व रोटी दी।

परन्तु उसने केवल सीमित मात्रा में ही दूध पीया और रोटी खाई। उसके पश्चात् धूप में जाकर बार-बार अपना एक पैर चाटकर अपने मुँह पर फिराने लगी।

इसके बाद किसान ने अपने लड़के को समझाया कि देखो बिल्ली अपना मुख धो रही है और इसी प्रकार यह अपना शरीर स्वच्छ रखती है। इसी कारण इसे खुजली नहीं होती। परन्तु तुम ऐसा नहीं करते हो इसी कारण तुम्हें खुजली का रोग होता है। लड़के ने कहा—मैं आज से गर्म पानी में अपने कपड़े धोऊँगा और प्रतिदिन स्नान करूँगा और फिर मेरी खुजली भाग जायेगी।

इसके अतिरिक्त किसान ने बताया कि शरीर के साथ पेट भी साफ रखना चाहिए। जैसे बिल्ली ने रोटी व दूध जोकि उसकी आवश्यकता से अधिक था ग्रहण नहीं किया। इसी प्रकार लड़के ने भी प्रण किया कि वह कोई ऐसी वस्तु नहीं खायेगा जो कि स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हो या उसकी आवश्यकता से अधिक हो। इस प्रकार लड़के का स्वास्थ्य उस दिन से अच्छा होने लगा। उसका पिता और अन्य लोग उसको अत्यधिक प्रेम करने लगे।

अतः स्वच्छ रहना हमारा परम कर्त्तव्य है। अपने शरीर और मन की पवित्रता से ही हम प्रभु की सृष्टि के सौंदर्य की अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं और सौंदर्य को बनाये रख सकते हैं।

**(6) इन्द्रियनिग्रह** – इसका अर्थ है कि अपनी कर्म व ज्ञान इन्द्रियों अर्थात् कान, आँख, रसना, नाक, त्वचा आदि और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध की वृत्तियों को वश में रखे। इसी प्रकार जैसे चंचल घोड़े चतुर सारथी लगाम द्वारा अपने अधीन रखता है।

इन्द्रियनिग्रह के विषय में महर्षि दयानंद के जीवन की एक अद्भुत घटना है कि एक अत्यंत सुन्दर युवती थी, परन्तु भरसक प्रयत्न के उपरांत उसके यहाँ कोई संतान न हुई। वह प्रतिदिन की भांति यमुना नदी में स्नान करके सूर्योदय के समय अपने घर को जा रही थी कि एक दिन उसने महर्षि

दयानंद को समाधि अवस्था में यमुना के तट पर देखा वह उनके सौंदर्य को देखकर मंत्रमुग्ध हो गई और उसने स्वामी दयानंद की आसनबद्ध जंघाओं पर अपना सिर टेक दिया । इस प्रकार स्वामी जी की समाधि भंग हो गई । स्वामी दयानन्द जी ने पूछा–''देवी क्या चाहती हो ?''

सुन्दरी ने कहा, ''आपके जैसा एक पुत्र ।''

स्वामी जी ने कहा– ''देवी ! बस इतना ही ।''

सुन्दरी ने उत्तर दिया–''हाँ महाराज ।''

स्वामी जी ने बहुत ही प्रभावोत्पादक उत्तर दिया –''तो 36 वर्ष का यह दयानन्द आज से आपका पुत्र है और आप है उसकी माता ।''

''धन्य हैं यतिराज'' कहकर सुन्दरी अपने घर चल गई । उसका जीवन पलट गया उसने संतान की कामना का सर्वथा परित्याग कर दिया क्योंकि वह बन गई थी अब महर्षि दयानन्द की आदरणीय माता । इस प्रकार उसने अपना शेष जीवन पवित्रता के साथ व्यतीत कर दिया ।

इसके विषय में आचार्य श्री राम शर्मा अपनी पुस्तक ''धर्म तत्त्व का दर्शन और मर्म'' में लिखते हैं–

**अश्लील चिन्तन अनैतिक है । उसमें नारी मात्र को रमणी, कामिनी, भोग्या, वेश्या के रूप में देखने सोचने की दुर्बुद्धि जड़ पकड़ती है ।**

आहार विहार को भूख बना लेना मानव के पतन का कारण होता है । दासता प्रत्येक प्रकार की बुरी है परन्तु इन्द्रियों की दासता सब से बुरी मानी जाती है जो मानव शरीर को, जोकि प्रभु की पवित्र एवं पावन देन होती है, मृतवत् आत्मा की समाधि बनाकर रख देती है । इसी कारण प्रत्येक मानव को संयमशील होना चाहिये ।

**(7) बुद्धि –** स्वयं को धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान और न्याय अन्याय में बुद्धिमान विवेकशील व यथार्थ ज्ञानी बनाना ही बुद्धिमान होना कहलाता है और नशीले पदार्थों अर्थात् शराब भांग–तम्बाकू आदि का परित्याग करना ही

विवेकशील व्यक्ति का कर्त्तव्य है । सारे संसार में बुद्धि से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है । अतएव जो बुद्धि को तुच्छ समझता है वह मानव नहीं अपितु पशु है ।

एक बार सम्राट् अकबर ने बीरबल की बुद्धि की परीक्षा लेनी चाही । अतः उसने आठ मंत्री बुलाये और उन सबको एक कतार में खड़ा किया । फिर अकबर सम्राट् ने सब मंत्रियों से एक प्रश्न पूछा–

''यदि 12 में से 1 घटा दिया जाये तो शेष कितने रहेंगे ?''

सब मंत्रियों ने उत्तर दिया–शेष 11 रहेंगे ।''

इसके उपरांत बीरबल से पूछा गया उसने उत्तर दिया–''कुछ भी शेष नहीं रहा जहाँपनाह !''

सम्राट् ने पूछा ''कैसे ?''

बीरबल ने उत्तर दिया– ''12 महीनों में से यदि सावन का एक महीना निकाल दिया जाये तो पैदावार की सफाई हो जायेगी । अतः कुछ भी शेष नहीं रहा और कहा कि सम्राट् के प्रत्येक प्रश्न में रहस्य होना चाहिये क्योंकि मंत्रियों से साधारण प्रश्न नहीं पूछा जाता ।''

इसी प्रकार अकबर ने एक दूसरा प्रश्न किया वह प्रश्न था–''एक और एक कितना हुआ ।''

आठों मंत्रियों ने उत्तर दिया–'दो' । परन्तु बीरबल ने उत्तर दिया–''ग्यारह'' ।

सम्राट् ने पूछा – वह कैसे ?

बीरबल ने कहा – ''यदि आप सा बादशाह हो और मुझ सा मंत्री हो तो हम दोनों की शक्ति दो के समान न होकर ग्यारह के समान हो जायेगी ।''

सम्राट् ने उत्तर दिया–मैं अपने साम्राज्य में नौ मंत्री बनाना चाहता था । पूर्ण नवग्रह चाहता था । आठ मिल गये थे । नवें तुम आज मिल गये

हो । मियां लड़के ! ''तुम्हारा नाम क्या है ?''

''मुझे बीरबल कहते हैं—जहाँपनाह''

''महाराज बीरबल ! आज से आप हमारे प्रधान मंत्री हुये और आज से हम तुम्हें महाराज की पदवी से विभूषित करते हैं ।''

इस पर बीरबल ने कहा—''ग़रीब की परवर ने मेरी जो क़द्र है उसके लिये शुक्रिया ।''

अकबर की आज्ञा से बीरबल को प्रधानमंत्री का पद प्रदान किया गया और शाही सिंहासन की दाहिनी और एक छोटे सिंहासन पर बैठने के लिये स्थान प्रदान भी किया गया । शेष आठ मंत्री उनके नीचे चौकियों पर बैठ गये ।

इस प्रकार बालक बीरबल ने अपनी बुद्धि और प्रभुप्रदत्त प्रतिमा के बल पर प्रधान मंत्री का पद प्राप्त किया ।

**(8) विद्या** – इस का अर्थ है यथार्थ सत्य ज्ञान की प्राप्ति और इससे शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति करके समूचे विश्व को कल्याण करना । वस्तुतः अशिक्षित व्यक्ति तो कूप-मण्डूक की भाँति बाड़े में बंद पशु की तरह है ।

भारतीय इतिहास के पन्नों को पलटने से प्रतीत होता है कि काशी में विद्यात्तमा नामक विदुषी एवं अनुपम सुन्दरी राजकुमारी थी । उसने अपना रूप एवं वैभव उस पुरुष के चरणों में समर्पण करने की प्रतिज्ञा की थी जो उसके प्रश्नों का उपयुक्त उत्तर देकर उसे हरा सके । पंडित मंडली ने एक सुन्दर युवक को अपना मनोव्रती गुरु बतलाकर संकेत से शास्त्रार्थ करने का अनुरोध किया और उसके इस प्रकार अटपटे संकेतों का मन माना अर्थ लगाकर उसे पराजित किया और उस युवक से शर्तों के अनुसार उसका विवाह करवाया । विद्योत्तमा ने विचारा कि मेरा विवाह करवाने में उसके पति का कोई भी दोष नहीं अपितु यह पंडित मंडली की छलना है । इस कारण ही

यह मूर्ख युवक मेरे भाग्य के साथ बांध दिया गया । इसी कारण विद्योत्तमा ने प्रतिज्ञा की–''पंडित मंडली ने जिस युवक को मूर्ख मानकर मेरे साथ छल कर परिणय कराया है उसी युवक को अपने परिश्रम से सुसंस्कृत बना उन सबको शीर्षस्थान पर सुशोभित करूँगी, नहीं तो अपने वैभव और रूप को भस्म कर दूगी ।''

युवक को मानो सुध मिल गई हो । उसने राजकुमारी के सुन्दर आनन पर अपनी आँखें जमाई तो उसे ललना के नेत्रों में दिखाई दिया–स्निग्धस्नेह का अगाधसागर, अजस्र सहानुभूति का अपरिमित अंतरिक्ष और अनुपम ज्योतिपिंड, विनयशील आदि । वह दिव्यानंद की अनुभूति में मग्न होकर कहने लगा–

मैं धन्य हो गया, मैं आपको पसंद आया, परमपिता परमात्मा का अत्यधिक धन्यावाद ।

'पसंद क्यों न आते भला ! तुम स्वस्थ हो, सुन्दर हो, सरल हो और ब्राह्मण कुमार हो ।''

किन्तु विद्वान् तो नहीं ?

''वह आप का दोष नहीं । उस समाज का है जिसने आपके प्रति उपेक्षा दिखाई । आपको पूर्णरूपेण मानव बनने का अवसर ही नहीं दिया । ''हाँ स्वामी ! बिना विद्या ग्रहण किये मानव पूर्णरूपेण मानव नहीं बनता, चाहे वह नर हो अथवा नारी हो ।''

''बिना विद्या ग्रहण किये ?''

''हाँ अपने आनन्द को चिरस्थायी रखने के लिये परमावश्यक है कि हम पूर्णरूपेण मानव बनें ।''

''आप सत्य कहती हैं । आप अत्यंत सुन्दर राजकुमारी हैं । विदुषी हैं । आप पूर्ण मानवता की मूर्त हैं । मुझ में विद्या का अभाव है मैं अधूरा मानव हूँ । इस कारण आपके योग्य नहीं हूँ ।''

''अपने को ऐसा हीन न समझो स्वामी ! सरस्वती मंत्र की साधना से आप पूर्ण मानव बन सकेंगे ।''

तो आप मेरी सहायता कीजिए । आप विदुषी हैं । मुझे भी वह मंत्र सिखला दीजिये जिससे मुझे विद्या प्राप्त हो सके और मैं पूर्ण ज्ञाता बन पूर्ण मानव बन सकूँ ।

''स्वामी, एक मंत्र मुझे आता है, आपको बताऊँगी भी अवश्य । परन्तु उसकी साधना अत्यन्त कठिन है । त्याग और तपस्या के सत्पथ पर चलकर ही वह मंत्र सिद्ध हो सकेगा ।''

''देवी ! मैं पूर्णरूपेण मानव बनने के लिये सर्वस्व त्याग करने को प्रस्तुत हूँ ।''

''मेरे अच्छे प्रियतम ! आपकी साधना का गुरुभार मैं वहन करूँगी उसकी सिद्धि के लिये आपके त्याग एवं तप के अंग संग मैं भी तपस्या करूँगी ।''

अब विद्योत्तमा ने युवक को तिलक लगाया और कहा–''स्वामी ! अब सरस्वती मंत्र सुनिये ।''

एकाग्रचित होकर विद्या अध्ययन करना ही ''सरस्वती मंत्र'' है । पठन, पाठन और लेखन द्वारा विद्याभ्यास करने से ही मंत्र सिद्धि होगी ।

शयनकक्ष में पहुँचकर राजकुमारी ने सर्वप्रथम स्तुति मंत्र बोल बोलकर युवक से उच्चारण कराया । युवक को लज्जित एवं संकुचित होते देखा, तो वह कहने लगी–''स्वामी संकोच न कीजिये और दुःखी भी न होइये । शनैः शनैः उच्चारण भी सही हो जायेगा । उसने अपने पति को वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों की कथा वार्ता से युवक की बुद्धि का शनैः शनैः शोधन कर दिया । थोड़े समय में ही कालिदास विविध विद्यापीठों के शिरोमणि स्नातक बन बैठे । ऐसा सब विद्यादेवी की अनुकम्पा के कारण हुआ । इसलिये विद्या की मानव जीवन में अपार महत्ता है । एक कवि ने विद्या

की महत्ता का कितना सुन्दर उल्लेख किया है ?

**न चौरहार्य न च राजहार्य न भ्रातृ भाज्यं न च भारकारी ।**
**व्यये कृते वर्धन एव नित्य विद्या धनं सर्वधन प्रधानम् ।।**

विद्या को चोर नहीं चुरा सकता, राजा नहीं छीन सकता, भाई नहीं बाँट सकता, यह भाररहित है । व्यय करने से नित्य बढ़ती है । अतः विद्या धन सब धनों से श्रेष्ठ है ।

आचार्य श्रीराम शर्मा ने अपनी पुस्तक ''धर्म तत्त्व का दर्शन और मर्म'' में लिखा है–

**विद्या का क्षेत्र है–चिन्तन, चरित्र और व्यवहार । चिन्तन में उत्कृष्टता, चरित्र में आदर्शवादिता और व्यवहार में शालीनता का समावेश करना विद्या का काम है ।** पृष्ठ 1.95

**(9) सत्य–**

**सत्य से ही सूर्य तप रहा, सत्य पर ही पृथ्वी टिकी हुई है ।**
**सत्य सबसे बड़ा धर्म है, सत्य पर ही स्वर्ग प्रतिष्ठित है ।।**

–महर्षिविश्वामित्र

जो बात जैसी है उसे वैसा ही मानना, बताना और आचरण में लाना सत्य कहलाता है । जब पांडव द्रोणाचार्य जी के पास विद्या पढ़ने के लिये गये तो सर्वप्रथम गुरु जी ने पांडवों को यह पढ़ाया ।

**''धर्मञ्चर माऽधार्मम ! सत्यं वद मा अनृतम् ।**
**दीर्घं पश्यमाहस्वम् ।''**

धर्म पर चल, पाप न कर, सत्य बोल, झूठ न बोल और जो कुछ भी सोच दीर्घ बुद्धि से सोच ।

महर्षि दयानंद जी ने सत्य के लिये 17 बार विषपान किया और हर प्रकार के प्रलोभनों को ठुकरा दिया ।

इस प्रकार सुकरात को सत्य वचन पर अडिग रहने के कारण तत्कालिक प्रशासन का कोप भाजन बनना पड़ा और सत्य की रक्षा के लिये उन्होंने मृत्यु का आलिंगन किया। न्यायालय का निर्णय था–

**सुकरात नगर के नवयुवकों के सत्यशिक्षण के नाम पर कुमार्ग पर ले जाते हैं। इस अपराध के लिये इन्हें विषपान द्वारा मृत्यु दण्ड दिया जाये। परन्तु सुकरात शांत थे।**

क्रीटो ने सुकरात के सामने प्रस्ताव रखा–

**मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप अब भी अपने मूल्यवान प्राण बचा सकते हो। इस क़ैदखाने से निकल भागने में हम आपकी सहायता कर सकते हैं।**

सुकरात ने उत्तर दिया–

**आप सत्य से अधिक मूल्यवान् प्राणों को समझते हों। क्रीटो! सत्य अमर एवं अविनश्वर है। सत्य शाश्वत प्रकाश है, उसे मृत्यु के अंधकार से, अज्ञान से बढ़ना कभी सम्भव नहीं है। सत्य की रक्षा के लिये प्राण दे देना ही मेरा पवित्र कर्त्तव्य है, यही मानव धर्म है। इससे न्याय का भाल उन्नत होगा।**

इस प्रकार दार्शनिक क्रीटो के सामने सुकरात ने विष का प्याला खुशी खुशी पी लिया। इसके बाद सुकरात बहुत देर तक अपने आपको नहीं संभाल सके। क्रीटो की सहायता से वे भूमि पर लेट गये। क्रीटो ने उनका मुख कपड़े से ढक दिया। इस प्रकार सत्य पालन में सुकरात ने अपने प्राण न्योछावर कर दिये। सत्य के विषय में कबीर ने कितना सुन्दर लिखा है–

**सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।**
**जाके हृदय सांच है, ताके हृदय आप।।**

एक बार किसी कसाई के हाथ से छुटकर गाय भाग गई। वह ऋषि आश्रम के पीछे नदी किनारे चर रही थी। ढूंढते हुये कसाई वहाँ पहुँच गया। कसाई ने ऋषि से गाय के विषय में पूछा और उसने ब्रह्मज्ञान की भाषा में उत्तर दिया–

**जिसने देखा है, वह बोलता नहीं और जो बोलता है उसने देखा नहीं ।**

इस प्रकार उसका संकेत जिह्वा और नेत्रों के बीच का अंतर भर बताना था । कसाई इस सांकेतिक भाषा को समझ न पाया और घर लौट गया । इस प्रकार गाय की जान बच गई । अतः जो झूठ आपत्ति काल में किसी असहाय की जान बचाने के लिये बोला जाता है वह झूठ नहीं होता ।

**(10) अक्रोध –** क्रोध हमारा बहुत बड़ा शत्रु है क्योंकि इससे जीवन शक्ति और आयु घटती है । इसलिये जिस व्यक्ति में ईर्ष्या व द्वेष की अग्नि को, जो कि क्रोध की बहिन भाई है, प्रचंड कर रखा है यह उनके लिए बहुत हानिकारक है । गीता में भी क्रोध के विषय में कहा गया है–

**क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।**
**स्मृति भ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।** –2.63

क्रोध से अत्यंत मूढ भाव उत्पन्न हो जाता है । मूढ़ भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि के नाश हो जाने से व्यक्ति का नाश हो जाता है । महात्मा कबीर ने सत्य कहा है–

**काम, क्रोध, मद, लोभ की जब लगि घर में खान ।**
**का मूरख का पंडिता, दोनों एक समान ।।**

''मनुस्मृति'' में क्रोध से उत्पन्न होने वाले दोषों का वर्णन इस प्रकार किया है–

**पैशुन्यं साहसं द्रोह, ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।**
**वाग्दण्डजम्, च पारुष्यं, क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ।।** –7.48

चुगली करना, बलात्कार करना, द्रोह करना, ईर्ष्या दोषों में गुण, गुणों में दोष निकालना, बुरे कामों में धन व्यय करना, कठोर वचन बोलना तथा बिना अपराध विशेष दण्ड देना आदि आठ दोष क्रोध से उत्पन्न होते हैं ।

क्रोध का उचित समय पर आना आवश्यक है, जैसे यदि कोई दुष्ट

किसी भी माता बहिन या पुत्री का अपमान करता है या अधर्म का साथ देता है तो क्रोध न करना कायरता ही होगा या किसी भी व्यक्ति का पुत्र कोई व्यसन करता है तो फिर उसे क्रोध करना चाहिये और उसे कुमार्ग से हटाना चाहिये। क्योंकि नशे की उत्तेजना में व्यक्ति कुछ भी कर सकता है। कोई काम बिगाड़ सकता है। किसी के प्रति भी असभ्य एवं अनुचित व्यवहार कर सकता है। यहाँ तक दूसरों का सिर फोड़ सकता है या आत्महत्या भी कर सकता है।

वस्तुतः आधे घंटे में क्रोध में उतना खून सूख जाता है जितना कि एक दिन के तेज ज्वर में। माचिस औरों को जलाने से पूर्व स्वयं को समाप्त कर लेती है। क्रोध भी उसी स्तर की आग है जो जिसके विरुद्ध भड़की है, उसे हानि पहुँचने के पूर्व ही स्वयं को जला डालती है।

**11. अहिंसा** – महर्षि दयानंद ने अहिंसा को भी धर्म माना है। इसका अर्थ करते हुये उन्होंने कहा केवल पशु आदि न मारना ही अहिंसा नहीं अपितु सबके साथ द्वेष भावना का त्याग करना परमावश्यक है। आचरण को इसका सार कहा गया है। मानव के लिये मानवीय भद्रतायें–यथा दान, सेवा, त्याग, दया, परोपकार–ये सब के लिये समान हैं। चाहे कोई हिन्दू हो या मुसलमान हो यदि कोई भी मानव, पूजापाठ, संध्या, प्रार्थना आदि प्रतिदिन करता है परन्तु उसमें इन भद्रताओं का अभाव हैं तो वह धर्मात्मा नहीं अपितु पाखंडी है।

**12. सदाशयता** – इसका भाव है कि हमें मिल-जुलकर रहना और मिल बाँटकर खाना चाहिये। इस क्षणभंगुर संसार में हम प्रत्येक वस्तु के चौकीदार बनकर रहे न कि स्वामी। हमें अन्य मानव के साथ स्नेह सहायता एवं सहयोग करना चाहिये। ऐसा करके हमें भी अभिमानी नहीं बनना चाहिये।

# 4. धर्म के आठ लक्षण

महात्मा विदुर ने धर्म के आठ लक्षणों को निम्न प्रकार से प्रतिबिम्बित किया है–

**यज्ञाध्ययन दानानि तपः सत्यं क्षमाऽघृणा ।**
**अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्ट विधः स्मृतः ।।**
**तत्र पूर्व चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।**
**उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसुतिष्ठति ।।**

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और अलोभ यह आठ भेदों वाला धर्म मार्ग है । विदुर का विचार है कि इन आठ में से प्रथम चार लक्षण तो घमंडी व्यक्ति में भी मिलते हैं परन्तु अंतिम चार लक्षण केवल संत महात्माओं में ही मिल सकते हैं ।

# 5. युग-धर्म के दस लक्षण

पुरातन काल में नीति-शास्त्र को धर्म-शास्त्र के अन्तर्गत लिया जाता था। बाद में साम्प्रदायिक मान्यताएं और प्रथापरम्परायें भी उसके साथ जुड़ गई। सम्प्रदायों के प्रतिपादनों में अनेकों स्थल ऐसे हैं जो एक दूसरे से मेल नहीं खाते। इसीलिए विवाद उठते हैं और पूर्वाग्रह आपस में टकराते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्यता के हित में यही उपयुक्त है कि सम्प्रदायों की सहिष्णुतापूर्वक रहने दिया जाये। उनमें जो बातें सर्वोपयोगी और नीतिसम्मत मिलें, उन्हें अपनाते और सराहते रहा जाये। विग्रह का अवसर देने प्रतिपादनों की चर्चा को टालते रहा जाये।

नीतिशास्त्र को धर्मशास्त्र के साथ जोड़ना हो तो उसके अन्तर्गत आने वाली आदर्शवादी स्थापनाओं को प्रत्येक सम्प्रदाय द्वारा प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए, उन्हीं को प्रकाश में लाया जाये और उन्हीं को प्रचारित किया जाये। आज की परिस्थितियों में विवेकपूर्ण अध्ययन करने पर पाया जाता है कि धर्मधारण की मुख्य स्थापनाओं में, तत्त्व-दर्शन की दिशा-धाराओं में भी परस्पर अन्तर देखा जाता है। जैसे– अहिंसा शब्द को ही लें तो उस संदर्भ में अनेक पक्ष-विपक्ष उभर कर सामने आते हैं। जैन और बौद्ध धर्मों में अहिंसा को प्राथमिकता दी गई, परन्तु शाक्तधर्म में देवताओं के सामने पशुबलि देने का प्रावधान है। अन्य कई धर्मो के विभिन्न त्योहारों पर पशुबलि धार्मिक परम्परा के अन्तर्गत की जाती है, उनमें प्रसाद के रूप में माँस परोसा जाता है। इस विभेद को दूर कैसे किया जाये। कितना अंधविश्वास फैला हुआ है, घोर पाप हो रहा है।

सत्य के सम्बन्ध में भी ऐसे ही द्वन्द्व सामने आते हैं। उच्च उद्देश्यों की पूर्ति के नाम पर राजनीति में, सेना में गुप्तचर विभागों में दुराव अपनाकर भेद लेने की, भेद न खुलने की व्यवस्था है ही। समय-समय पर अध्यात्मवादी भी अपवाद प्रस्तुत करते रहे हैं। बच्चों का मन रखने के लिये अथवा दुष्टों की

दुष्टता निरस्त करने के लिये प्रत्यक्ष सत्य की मर्यादाएँ तोड़ी जाती हैं। श्री कृष्ण के जीवन में ऐसे ही कई उतार-चढ़ाव हैं। इस दृष्टि से धर्म-शास्त्रों में भी धर्म लक्षणों की कोई स्पष्ट रेखा खिंची हुई नहीं है। विभिन्न स्थलों पर धर्म के भिन्न-भिन्न लक्षणों का प्रतिपादन मिलता है। इस आधार पर कोई सर्वसम्मत अभिमत उभर कर सामने नहीं आता। इसका कारण अज्ञानता है।

ऐसी स्थिति में परम्परागत विधि-निषेधों की ऊहापोह विचार-विमर्श में न उलझकर शाश्वत् धर्म 'युगधर्म' के नाम से नीति-नियमों का वर्गीकरण करके उन्हें स्वीकार कर लेना हमारे लिए अत्यंत उपयोगी होगा। धर्म के अनेक लक्षण हैं, प्रत्येक लक्षण में अनेक बारीकियाँ हैं। उन सब का जोड़-तोड़ बिठाने पर धर्म के मुख्य अंगों की संख्या भी इतनी बड़ी हो जाती है कि उनके निर्वाह की सतर्कता बरतना तो दूर, उन्हें पूरी तरह याद रखना भी कठिन हो जाता है। सत्य-असत्य को आत्मा जानता है, परन्तु मानता नहीं, इसके अनेक कारण हैं।

ऐसी दशा में यही उपयुक्त लगता है कि सामयिक समस्याओं का समाधान कर सकने वाले, सामयिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकने वाले नीति-नियमों को ही प्रमुखता दी जाये और उन्हें ही अपनाया जाये। उन्हें सार्वभौमिकता एवं सज्जनता की कसौटी पर जाँचते हुए खरे स्तर तक पहुँचाया जाये। इन दिनों कई दुर्गुण असाधारण रूप से पनप रहे हैं। वे प्राचीनकाल में इतने उग्ररूप में नहीं थे, इसीलिये तब उनके प्रतिरोध पर अधिक जोर देने की आवश्यकता भी नहीं समझी गई। परन्तु आज की स्थिति में उनकी उपेक्षा का अर्थ है विनाश को निमंत्रण देना। इसलिए अब उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, उनके विरोध-प्रतिरोध के लिए सशक्त तंत्र खड़े करने ही होंगे। यह राजा का कर्त्तव्य होता है कि वह प्रजा को धर्म परायण बनाये। परन्तु देश का दुर्भाग्य है कि राजा ही पाखण्ड में लिप्त होकर पाखण्ड परोस रहे हैं, इसका प्रभाव सीधा जनता पर पड़ता हैं कहावत भी है कि यथा राजा तथा प्रजा।

उदाहरण के लिए नशेबाजी को ही लें। प्राचीनकाल में उसे उतनी विकृति नहीं माना गया था। क्योंकि तब नशे के नाम पर तीव्र प्रतिक्रिया वाले, अत्यधिक हानिकारक पदार्थों का प्रचलन नहीं था। जो थे वे सौम्य नशे में और उपयुक्त परिस्थितियों में उनके मर्यादित उपयोग से उतनी हानि की सम्भावना नहीं थी। उनमें किन्हीं अंशों में औषधीय गुण भी रहते थे तथा उस रूप में चिकित्सक की सलाहसे लेने में कोई दोष नहीं माना जाता था, परन्तु आज तो स्थिति भयंकर है। इतने तीव्र नशीले पदार्थ विकसित कर लिये गये हैं कि उन्हें ज़हर से कम कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उस पर भी नशा सेवन व्यसन से आगे बढ़ कर फैशन बनता जा रहा है। सेवन की कोई मर्यादा ही नहीं रह गई है। तीव्र नशे और उनके अमर्यादित सेवन की प्रतिक्रियाएं समूचे समाज को ही जर्जर किए जा रही है। ऐसी स्थिति में यदि नशे को भारी अधर्म ठहराया जाये तो इस निर्धारण को सही और समयानुकूल ही कहा जायेगा। वर्तमान में शराब सरकारों का आय का साधन बन गया है, जनता के हित की चिन्ता नहीं है टैक्स अर्जन की चिन्ता है।

यही बात छल-छद्म के सम्बन्ध में भी है। प्राचीन काल में सत्य व्यवहार एक सीधी-सादी बात के रूप में सहज स्वीकार्य था। कभी दो व्यक्ति या वर्ग आपस में टकराते थे तो उनमें आमने-सामने सीधा संघर्ष ही होता था, परन्तु आज तो अधिकांश व्यक्तिगत या सामूहिक लड़ाइयाँ छल-प्रपंच के आधार पर लड़ी जाती हैं। पहले तो कूटनीति की भी कोई आचारसंहिता थी, जिसमें उसे सीमित प्रंसगों में, सीमित मात्रा में ही प्रयुक्त किया जाता था, पर अब तो छल-प्रपंच की कोई सीमा-मर्यादा भी नहीं रह गई। भाइयों और पड़ोसियों, सहकर्मियों से लेकर अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक, कोई पक्ष इससे मुक्त नहीं है। विपक्ष को धोखे में डालकर विश्वासघात की सीमा तक जाकर भी अपनी कथित जीत के ताने-बाने बुनना सामान्य बात हो गई है। मित्र बनकर शत्रुता करने वाले, शौर्य के स्थान पर धोखेबज की धूर्तता बरतने वाले अपने

को कुशल शिकारी जैसा श्रेय दिलाना चाहते हैं। मानो मछलीमार-चिड़ीमार ही सबसे बड़े वीर-विजेता कहलाने लगे हैं।

पुरातनकाल में यह प्रवृत्ति नहीं थी। दिन में युद्ध करके दिन छिपे बाद सभी सैनिक शत्रु पक्ष की ओर से निश्चिन्त होकर आराम करते थे। विरोधी पक्षों की ओर से लड़ने वाले भी शाम होने पर परस्पर मिल लेते थे, सलाह कर लेते थे, पर अब तो विश्वासघात को, छल को ही रणनीति का मुख्य अंग मान लिया गया है।

लड़ाई ही नहीं सामान्य जन-जीवन में छोटे-छोटे स्वार्थों के लिये, यश लूटने के लिए, कदम-कदम पर धोखेबाजी, विश्वासघात को ही प्रमुख हथियार मानकर प्रयुक्त होते देखा जाता है। ऐसी स्थिति में जब मनुष्य पर से, मनुष्यता पर से ही विश्वास टूटता जा रहा है तो छल को कौशल नहीं अधर्म कहकर ही उस पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाना होगा। प्राचीनकाल में ऐसी वीभत्स स्थिति पैदा न होने से भले ही उसे इतना घातक घोषित न किया गया हो, परन्तु आज तो उसे सर्वसम्मत अधर्म घोषित करना ही होगा।

कथन का अभिप्राय इतना भर है कि समय की समस्याओं का अध्ययन करते हुये उन्हें सुलझा सकने योग्य नीति-निर्धारण करने होंगे। उनको ही प्रचार और लोक-शिक्षण का आधार बनाना होगा। व्यक्ति और समाज की उलझी हुई समस्याओं का जो समग्र समाधान दे सके, उसे ही 'युगधर्म' कहा जा सकता है। ऐसे नीति-निर्धारण को जन-जीवन में प्रमुखता मिले ऐसा वातावरण बनाना होगा। युग की आवश्यकता के अनुरूप धर्मधारण के सूत्रों को इन दिनों अधोलिखित रूप में वर्णित किया जा सकता है—

**1. शालीनता—** सज्जनता, विनम्रता का सहज स्वभाव, वाणी और व्यवहार से उसका परिचय देना। दूसरों को, छोटे-बड़े सभी को उचित सम्मान देना। वाणी में मधुरता, सहजता और सार-संक्षेप के समावेश का अभ्यास। अधिकार से अधिक कर्त्तव्यों का ध्यान रखना। विवादों और विग्रहों से

यथासम्भव बचना । विचारों में आदान-प्रदान का क्रम चलता रह सके, ऐसा संतुलन बनाये रखना । सुधार के लिये स्वयं को प्रस्तुत करने का सहज उत्साह बनाये रखना ।

**2. दूरदर्शिता** – निर्धारणों और प्रयासों के दूरगामी परिणामों को समझना और महत्व देना । उतावली में, आवेश में आकर्षणवश ऐसा कुछ न करना जिससे तत्काल थोड़ा लाभ पाने के बाद भविष्य में तिरस्कार सहना और पश्चाताप करना पड़े ।

**3. सुव्यवस्था** – श्रमशीलता, जागरूकता बनाये रखना । शारीरिक आलस्य और मानसिक प्रमाद का उन्मूलन । समय को सुनियोजित क्रिया-कलापों में व्यस्त रखना । हर क्षण को सार्थक सदुपयोगों में लगाने की प्रखरता । हाथ के काम में समग्र मनोयोग से लगना । निरर्थक कल्पनाओं में मानसिक क्षमताओं को अस्त-व्यस्त न होने देना । शरीर, वस्त्र, स्थान, उपकरण सभी की स्वच्छता और सुरुचि का सौम्य संयोग रखना । वस्तुओं को यथास्थान कराने से जमाने की आदत । दिनचर्या, कार्य-पद्धति एवं योजनाओं में सुनियोजन का तारतम्य । जीवन के किसी भी क्षेत्र में अस्त-व्यस्तता न रहने देना अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न मानना ।

**4. ईमानदारी** – किसी को धोखा न देना । वस्तुस्थिति से बहुत आगे बढ़कर शेखी न बघारना । छल-प्रपंच का आश्रय न लेना । करनी और कथनी में अन्तर न आने देना । अन्याय-अनौचित्य से बचकर रहना । बेईमानी को अपने विचारों और कार्यों में समाविष्ट न होने देना । अनीति न करना, न कराना और न उसका समर्थन करना ।

**5. जिम्मेदारी** – कर्त्तव्यपरायणता, शारीरिक स्वास्थ्य का, मानसिक संतुलन का, आर्थिक सुव्यवस्था का तारतम्य बिठाये रखना । सौंपे गये कार्यों, आश्रित या अधीनस्थ व्यक्तियों के समुचित निर्वाह और विकास की क्षमता और भावना बनाये रखना । कोई ऐसा कार्य न करना जिसका अनुसरण करने

पर अन्यायों के कारण पतन के गर्त में गिरना पड़े, दुःख उठाना पड़े। वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में प्रामाणिकता, उत्कृष्टता बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहना। देश, धर्म, समाज और संस्कृति के प्रति कर्त्तव्यों को अनुभव करना और उनका निर्वाह करना।

**6. आस्तिकता** – ईश्वर को सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय, कल्याणकारी चेतनशक्ति का प्रवाह मानना। उस दिव्य-धारा को व्यक्तित्व में अधिक से अधिक समाविष्ट करने के लिये अभ्यर्थना, उपासना करना। परब्रह्म को सर्वव्यापी और न्यायकारी मानते हुए कर्मफल की सुनिश्चितता पर विश्वास करना, उसे विश्व व्यवस्था का अनिवार्य अंग मानकर चलना। प्रतिफल मिलने में देरी होती हो तो भी उसको अकाट्य मानकर कुकर्मों से बचे रहने के सम्बन्ध में सतर्क रहना। व्यक्तित्व को, उसमें सन्निहित विभूतियों को परमपिता की धरोहर मानना और उसके सदुपयोग के लिए जागरूक रहना। इस हेतु व्यक्तित्व में पवित्रता, प्रामाणिकता और प्रखरता बढ़ाते हुए सच्चे अर्थों में अध्यात्मवादी बनना।

**7. परमार्थपरायणता** – जरूरतमंदों की आवश्यकताएं पूरी करने में हर्ष की अनुभूति होना। दीनों, दुःखियों, गिरे हुओं को, अभावों, दुःखों और पतन से ऊपर उठाने के पुण्य कार्य को अपने पवित्र कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार करना और उसे नियमित रूप से दिनचर्या का अंग बनाकर चलना। अपने धन, समय, प्रतिभा, योग्यता, प्रभाव आदि का निर्धारित अंश उस निमित्त मनोयोगपूर्वक लगाते रहना। ऐसा करने में गौरव एवं संतोष की अनुभूति करना। इस क्रम में अन्यों को जोड़ते रहने का प्रयास पुरुषार्थ करते रहना।

**8. संयमशीलता** – इन्द्रियों को व्यसनों में न लिप्त होने देना। चटोरापन, कामुकता, अतिवाचालता, आवारागर्दी जैसी दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश रखना। समय का सुनियोजित निर्धारण, दिनचर्या बनाकर चलना। समय काटने-बर्बाद करने की मनोकामना से बचना। प्रत्येक क्षण के अच्छे से

अच्छे सदुपयोग के लिये तत्पर रहना। अर्थ को, धन और साधन को, समय को उपयोगी हितकारी कार्यों में ही लगाना। फैशन, विलासिता, अहंकार के प्रदर्शन से बचना, अनावश्यक संग्रह से बचना। विचारों को श्रेष्ठ रचनात्मक कार्यों में इस प्रकार सुनियोजित किए रहना कि कुकल्पनाएं उठने का अवसर ही न मिले। ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध, प्रपंच आदि का ताना-बाना बुना ही न जा सके। उद्वेग उठने, उत्तेजित होने की गुंजाइश ही न रहे।

**9. उदार, आत्मीयता-सहकारिता** – अपने आपको समष्टि का, विराट का एक अंग मानना। सब में परमात्म-चेतना या आत्मचेतना का अंश देखते हुए भेद से ऊपर उठकर विशाल हृदय-आत्मीयता का प्रमाण देना। संकीर्ण स्वार्थपरता के भाव में न आने देना। सहयोग लेने और देने की प्रवृत्ति और कला का विकास करना। एक बृहत् परिवार का अंग होने का भाव बनाये रखना। मिल-जुलकर रहने, मिल-बाँट कर खाने और साथ-साथ काम करने में प्रसन्नता अनुभव करना।

**10. प्रखरता** – कठिनाइयों, अवरोधों को पार करते हुए लक्ष्य तक बढ़ने की क्षमता, साहसिकता। आदर्शों को अपनाने, विकारों को हटाने, कठिनाइयों में अविचलित रहने योग्य मनोबल। कुरीतियों-अनीतियों को नकारने और उनका प्रतिरोध कर सकने योग्य संकल्पबल। सन्मार्ग पर चल पड़ने की ही नहीं, उसे बसा लेने को भी सहज प्रवृत्ति का विकास।

उपर्युक्त दस सूत्रों को युगधर्म की मान्यता दी जा सकती है। विभिन्न सम्प्रदायों के मानने वालों को भी इन्हें अपनाने में सैद्धान्तिक कठिनाई नहीं चाहिये, क्योंकि प्रकारान्तर में सभी विचारकों ने इन्हें स्वीकार किया है। कहीं किसी नियम विशेष की लक्ष्मण रेखा बन गई हो, वहाँ उसे इन दस सूत्रों में से किसी के साथ, उसकी समस्वरता देखते हुए मिलाया जा सकता है। अनेकानेक नीति-नियमों को इन दस सूत्रों की परिधि में समेटा जा सकता हैं योगदर्शन में वर्णित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्राणिधान आदि यम-नियम इन्हीं में आ जाते

हैं । मनु के दस धर्म, लक्षण और महात्मा गाँधी के सप्त महाव्रत भी घुमा-फिरा कर इन्हीं सूत्रों में समाहित हो जाते हैं ।

इन सूत्रों की परिधि में, दार्शनिक क्षेत्र में प्रतिपादित आस्तिकता, धार्मिकता, आध्यात्मिकता का, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग का गीतोक्त आदि का भी समावेश हो जाता है । समाजशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सभी अनुशासन संयमशीलता के अन्तर्गत और नागरिकता के नियम शालीनता के अन्तर्गत आ जाते हैं । इसी प्रकार कहीं यदि कुछ छूटता दीखे तो उन्हें इन्हीं सूत्रों के साथ ही जोड़ते हुए चला जा सकता है । इन्हें युगधर्म का, शाश्वत धर्म का नाम सार्वभौम स्तर पर लागू किया जा सकता है ।

# 6. धर्म और राजनीति

आजकल यह विवाद प्रचलित है कि धर्म को राजनीति से अलग रखा जाये। यदि गंभीरतापूर्वक देखा जाये तो यह विवाद धर्म और राजनीति का न होकर सम्प्रदाय और राजनीति का ही है। धर्म तो मानव के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के लिये परमावश्यक हैं अतः उसको राष्ट्रीय विचारधारा से और राष्ट्र के संचालन से अलग नहीं किया जा सकता। धर्म से यदि राजनीति जुड़ती है तो रामायण घटित होती है परन्तु इसके विपरीत यदि धर्म में राजनीति आ जाती है तो महाभारत घटित होती है। अतः राष्ट्रोन्नति के लिए धर्म से राजनीति जुड़नी चाहिये और नेताओं में राष्ट्र धर्म की भावना होनी चाहिये। क्योंकि यही उनका सच्चा धर्म है। जैसेकि प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी जी कहते हैं–

**सरकार का एक ही धर्म होता है वह है राष्ट्रधर्म**
**सरकार का एक ही धर्म ग्रंथ होता है वह है संविधान**
**सरकार की एक ही शक्ति होती है वह है जनशक्ति**
**सरकार का एक ही उद्देश्य होता है वह है जनकल्याण।**

इसी प्रकार आचार्य चाणक्य ने भी कहा है–

**धर्मस्य मूलं राज्यम्**

अर्थात् धर्म की आधारशिला राजनीति हो। धर्म से पृथक् राजनीति भ्रष्टाचार पूर्ण होगी। जिसमें ''जिसकी लाठी उसकी भैंस'' की कहावत चरितार्थ हो जायेगी। क्योंकि ऐसी राजनीति में नैतिकता का सर्वथा अभाव होगा। अतः **सत्यमेव जयते, वसुधैव कुटुम्बकम्, आत्मवत् सर्वभूतेषु** आदि धर्म सिद्धान्त छोड़कर राज व्यवस्था क्या रह जायेगी। इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

# 7. वस्तुतः धर्म क्या है?

धर्म के विषय में एक कवि ने कितना सुन्दर लिखा है–

**धर्म कहता है कि दुःख में धैर्य को न छोड़ तू।**
**बदले वाली भावनाओं को बदल मुख मोड़ तू।**
**इन्द्रियों का बन के स्वामी कर्म शुद्ध अपने बना।**
**सत्य विद्या ग्रहण करके लोक सेवा में लगा।**
**भावना चोरी की हर्गिज तू कभी मन में न ला।**
**मन वचन से सत्यवादी अपनी जीवन ले बना।**
**काम, क्रोध और लोभ मोह, मिथ्या न कर अभिमान तू।**
**इनसे मन को रोक कर सच्चा धर्म पहचान तू।**
**मन के हारे हार है और मन के जीते जीत है।**
**धर्म से गर प्रेम सच्ची है तो सच्ची प्रीति है।**
**धर्म के हैं दस जो लक्षण अब भी ले गर धार तू।**
**जन्म तेरा सफल है हो भवसागर से पार तू।।**

संसार में धर्म तो केवल एक ही है, किन्तु इसके दो भाग हैं–**लौकिक धर्म** जिसका संबंध सांसारिक आवश्यक कर्त्तव्यों जैसे व्यक्तिगत धर्म, सामाजिक धर्म, राष्ट्रीय धर्म आदि। दूसरा **पारलौकिक धर्म** जिसका संबंध परमपिता परमात्मा एवं मोक्ष प्राप्ति से है।

यद्यपि मानव धर्म एक ही है, परन्तु आज विश्व में लगभग 3600 सम्प्रदाय फैले हुए हैं जो कि समय-समय पर किसी न किसी महापुरुष या पैग़म्बर द्वारा अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर चलाये गये होंगे। जैसे ईसाइयों के 76 सम्प्रदाय हैं किन्तु तीन सूत्र ऐसे हैं जो उन्हें परस्पर सम्बद्ध रखते हैं वे हैं–क्राइस्ट, क्रॉस और बाइबल। सबका पैग़म्बर क्राइस्ट, चिन्ह क्रॉस और धार्मिक ग्रंथ बाइबल है। इसी प्रकार मुसलमानों के भी 36 सम्प्रदाय हैं और सांझे तीन सूत्र हैं–मोहम्मद, क़ुरान और काबा। सबका

पैग़म्बर मोहम्मद है, धार्मिक ग्रंथ क़ुरान है और तीर्थस्थान काबा है । इस प्रकार हिन्दुओं और सिक्खों के भी अनेक सम्प्रदाय हैं जैसे शैव सम्प्रदाय, शाक्त सम्प्रदाय, वैष्णव सम्प्रदाय, राधा स्वामी, श्रीरामशरणं, आर्यसमाज, आर्ट ऑफ लिविंग, सिक्ख सम्प्रदाय, रामधारिये, निरंकारिये आदि । परन्तु ये सब के सब सम्प्रदाय हैं न कि धर्म । क्योंकि किसी महापुरुष द्वारा अपने अहं की पूर्ति, स्वार्थसिद्धि एवं विभिन्न रुचि के कारण ही इनका प्रचलन किया गया था । यदि हम गंभीर दृष्टि से देखें तो इन सारे सम्प्रदायों की पूजापद्धति विभिन्न अवश्य हैं सबका उद्देश्य एक ही है वह है परमात्मा में अटल विश्वास, दया, असहाय, दुःखी मानवता की निष्काम सेवा आदि । यथा–

**ग्रंथ, पंथ, सब जगत् के बात बतावन तीन ।**
**प्रभु हृदय, मन में दया, तन सेवा में लीन ।।** –धर्मपाल कपूर

यही सारे ग्रंथों, पंथों एवं संतों का सार एवं संदेश है । इनके सिद्धान्त शाश्वत नहीं धर्म के लक्षण व सिद्धान्त शाश्वत होते हैं । वह सब के लिये हर समय ग्राह्य होते हैं । वस्तुतः धर्म का नाम है कुछ कल्याणकारी सिद्धान्तों का होता है, जो हम दूसरे की भलाई के लिये जीवन में अपना लेते हैं । यदि हम ऐसा नहीं करते तो वह धर्म न रहकर आडम्बर बन जाता है । स्वामी विवेकानंद ने धर्म के विषय में सत्य ही कहा है–

**A religion which cannot wipe out the teats of a widow and give bread to the starving is not religion at all.**

यदि धर्म एक दुःखियारी विधवा के आँसू नहीं पोंछ सकता और भूखे व्यक्ति को भोजन नहीं दे सकता तो वह बिल्कुल ही धर्म कहलवाने के योग्य नहीं है ।

वास्तविक धर्म वह है जो दुःखी मानवों की सेवा अपने सामर्थ्य के अनुसार करने की प्रेरणा करे । यदि धर्म अंतःकरण में ऐसी भावना पैदा नहीं करता तो वह धर्म वास्तविक अर्थों में धर्म नहीं हैं ज्ञान जब तक पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने का विषय रहता है तब तक ज्ञान है और आचरण में आने

पर धर्म बन जाता है और आचरण करने वाला व्यक्ति धार्मिक बन जाता है। इमर्सन ने सत्य ही लिखा है–

**Character is the transcription of knowledge into actions.**

जब ज्ञान क्रिया में आ जाता है तभी वह चरित्र बन जाता है।

मानव का धर्म मानवता है, या इन्सानियत है, या मनुष्यता है। मानव न हिन्दू, न ईसाई, न मुसलमान अपितु वह केवल मानव है। ईश्वर ने सब को स्त्री-पुरुष पैदा किया, बाकी सब मानव के अपने बनाये हुए हैं। अतः जो धर्म मानव को मानव निर्माण की शिक्षा प्रदान करता है वही मानव धर्म है। धर्मग्रंथों में धर्म नहीं हैं केवल ये शब्द हैं जिनके अनुशीलन से तत्त्व ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान केवल ज्ञान है, धर्म नहीं। परन्तु जब ज्ञान आचरण में आ जाता है तभी धर्म बनता है अन्यथा नहीं। अतः धर्म शब्दमय न होकर आचरणमय है। तैतिरीयोपनिषद् में सत्य लिखा है–

**सत्यंवद्, धर्म चर** 1.11

सत्य बोल और धर्माचरण कर।

विभिन्न धार्मिक ग्रंथों में धर्म के बारे में सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

**मनुर्भव जनया दैव्यम् जनम्** ऋ. 10.53.6

हे मानव ! पहले स्वयं मानव बन और फिर देवताओं के समान विश्व कल्याण के लिये संतान उत्पन्न कर। जैसे–

**धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः**
**तस्माद्धर्मो न हंतव्यो, मा न धर्मो हतोऽवधीत्।** –मनुस्मृति 8.15

जो व्यक्ति धर्म का नाश करता है उसी का नाश धर्म कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है उसकी धर्म भी रक्षा करता है। इसलिये मृतक धर्म

कभी हमें न मार डाले इस भय से धर्म का त्याग कभी नहीं करना चाहिये। जैसे भर्तृहरि लिखते हैं–

**निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वास्तुवन्तु।**
**लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेषृम्।।**
**अद्यैव वा मरणमस्तु युगांतरे वा।**
**न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।**

–भर्तृहरिशतक (नीतिशतक 85)

सब पुरुषों को यह निश्चय जानना चाहिये कि चाहे सांसारिक अपने प्रयोजन की नीति में वर्तने हारे, चतुर पुरुष निन्दा या स्तुति करें, लक्ष्मी आये या जाये, आज ही या युगान्तर में मृत्यु हो जाये, तथापि जो व्यक्ति धर्मयुक्त मार्ग से एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते वे ही धीर पुरुष धन्य हैं। अतः हिन्दी कवि राकेश जैन ने धर्म की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–

**आँखों की शोभ सुरमे से नही, शर्म से होती है।**
**शरीर की शोभा शृंगार से नहीं कर्म से होती है।।**
**आप मानो या मत मानो, पर सच जानो।**
**जीवन की शोभा धन से नहीं, धर्म से होती है।।**

इसके अतिरिक्त धर्म के विषय में श्री बी.डी. कालिया ''हमदम'' जी के निम्नलिखित दो अश्आर देखिए–

1. **धर्म का पैग़ाम तो इन्सान का कल्याण है।**
   **धर्म के फिर नाम पर क्यों जग का ऐलान है।।**
2. **हम मज़ाहिबे (सभीधर्म) क़ौम फिकरों में ही बंट कर रह गये।**
   **बर्रेआज़म (महाद्वीप) ज़ज़ीरों (द्वीपों) में सिमट कर रह गये।।**

# ४. धर्म उपयोगी भी है एवं आवश्यक भी है

धर्म को जीवन का अनिवार्य अंग मानते हुए टालस्टाय ने अपनी पुस्तक ''धर्म क्या है?'' में लिखा है–

**जो लोग धर्म को बहिष्कृत करके केवल विज्ञान को ही अपने जीवन का पथप्रदर्शक बनाना चाहते हैं, वह बहुत बड़ी भूल करते हैं। भौतिक विज्ञान केवल उन बातों की ही मीमांसा करता है, जो वर्तमान काल में उपस्थित हैं, वह जीवन की अगणित आने वाली समस्याओं के समाधान की योग्यता नहीं रखता, क्योंकि वैज्ञानिक स्वयं इन प्रश्नों को अपनी सीमा के बाहर समझते हैं।**

धर्म जीवन का प्राण है। प्राण वायु के समान ही इसके बिना एक क्षण भी रह सकना सम्भव नहीं है। धर्म उतना ही व्यापक है, जितना कि यह सृष्टि। जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं जो इसके अन्दर न आता हो। धर्म का सम्बन्ध मानव जीवन के साथ आदिकाल से है। किसी न किसी रूप में वह मानव जीवन के साथ सदा जुड़ा रहा है। टॉलस्टाय अपनी उपरोक्त पुस्तक में लिखते हैं कि कभी कोई समय या देश ऐसा नहीं रहा जब या जहाँ मनुष्य बिना धर्म के रह सका हो। यह कैसी अविवेक पूर्ण बात है कि आज का तथाकथित बुद्धिजीवी यह कहता है कि हम बिना धर्म के रह सकते हैं तथा हमको रहना चाहिये।

इस प्रकार के कथन के बाद भी धर्म वर्तमान में भी आदिकाल के समान बना हुआ है। वह मानव जाति का संचालक और हृदय है। जिस प्रकार हृदय के बिना जीवन असम्भव है, उसी प्रकार बिना धर्म के व्यक्ति का काम नहीं चल सकता। समय-समय पर परिस्थितियों के अनुरूप धर्म के स्वरूप में अन्तर भले ही आता रहा हो, परन्तु धर्म के सिद्धात सनातन रूप में व्यक्ति के साथ सदा जुड़े चले आ रहे हैं।

धर्म की व्यापकता एवं महानता के आधार पर ही उसकी महिमा का गुणगान किया गया है। शास्त्रकार एवं आप्तपुरुषों के वचन धर्म को जीवन

की सर्वोच्च एवं अनिवार्य आवश्यकता बताते हैं । समस्या तब उत्पन्न होती है, जब धर्म की पूर्व प्रचलित क्रिया-कृत्यों , पूजा-उपचारों अथवा साम्प्रदायिक सीमाओं में क़ैद करने का प्रयास किया जाता है । यह प्रयास अविवेकपूर्ण है और उपहासस्पद भी । सम्पूर्ण हवा को, प्रकाश को एक निश्चित कमरे मे केन्द्रीभूत करने का प्रयास किया जाये तो यह असम्भव ही होगा ।

वर्तमान समय में धर्म से बौद्धिक वर्ग के नाक-भौं सिकोड़ने के दो कारण है—(1) धर्मतंत्र की विकृतियाँ, (2) अन्धानुकरण की प्रवृत्ति । निस्संदेह धर्म के नाम पर फैले पाखण्ड ने जनसामान्य को सदियों से दिग्भ्रान्त किया है । श्रद्धा के नाम पर तथाकथित धर्माचार्यों ने जन-भावना का दोहन किया है । विश्वास के स्थान पर अंधविश्वास पनपा है । कभी तो साम्प्रदायिक भावना को लेकर उपद्रव होते देखे जाते हैं । हिंसात्मक गतिविधियाँ तक अपनायी जाती है ।

इतिहास साक्षी है कि धर्मोन्माद से ग्रस्त व्यक्तियों ने किस प्रकार अपने से भिन्न विचार वालों पर अत्याचार किये और रक्त की नदियाँ बहाई । इस प्रकार की विकृतियों को देखकर एक बुद्धिजीवी का घृणा करना स्वाभाविक है । मानवीय मस्तिष्क की बनावट की विशेषता के साथ एक कमी यह जुड़ी है कि वह काले पक्ष पर अधिक ध्यान देती तथा उसे ही तथ्य मान लेती है ।

विकृति को ही धर्म का स्वरूप मान लिया जाये तो यह भारी भूल होगी । यह घृणा उसी प्रकार है जैसे कोई भूखे व्यक्ति को अभक्ष्य खाते देखकर यह कहे कि भोजन करने से इतने उपद्रव होते हैं इसलिये मनुष्य को भोजन त्याग देना । विकृतियाँ अपवाद हैं, तथ्य नहीं । यह अपवाद तो प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है । वस्तुतः होना यह चाहिये कि देखने वाला उस अभक्ष्य भोजन को रोके । उसकी हानियों को बताये । बन पड़े तो रोटी की व्यवस्था बनाये, अन्यथा रोटी खाने की सलाह दे । धर्मतन्त्र की विकृतियों को देखकर ताना तो सभी देते हैं, परन्तु समाधान देने अथवा धर्म के सही स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं करते हैं । उल्टे धर्म की सनातन गरिमा पर दोषारोपण करने एवं उनकी अनुपयोगिता सिद्ध करने का दुस्साहस करते देखे जाते हैं ।

धर्म क्षेत्र की विकृतियों का कारण अधर्म है, न कि धर्म । अज्ञानवश विकृतियों के कलेवर को ही कुछ लोग धर्म समझ बैठते हैं तथा यह मान लेते हैं कि धर्म मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं हो सकता । चिरकाल से चली आ रही परम्पराओं को, औचित्य एवं अनौचित्य पर विचार किये बिना अपनाया जाना भी बौद्धिक वर्ग की घृणा का एक कारण रहा है । पूजा-पाठ के क्रिया-कृत्यों में सब धार्मिक सिद्धान्तों, शिक्षाओं एवं प्रेरणाओं की उपेक्षा कर दी जाती है तथा उन क्रिया-कृत्यों को ही सर्वांगपूर्ण होने की मान्यता दी जाती है, तो विचारशीलों द्वारा सन्देह करना स्वाभाविक ही है, किन्तु इतने मात्र से धर्म की अनुपयोगिता सिद्ध नहीं हो जाती है । स्वरूप का सही प्रस्तुतीकरण न होने का दोष प्रस्तुतकर्त्ता का है न कि तथ्य का ।

कभी-कभी कुछ स्वार्थी व्यक्ति अपने संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति के लिए भी इस प्रकार के कृत्यों को सर्वांगपूर्ण बताते हुए उन्हें प्रोत्साहन देते हैं । साम्प्रदायिकता की भावना को जन्म देने तथा फैलाने में भी इन्हीं दूषित मनोभावना के व्यक्तियों का हाथ होता है । भोले एवं अज्ञानी प्रवृत्ति के लोगों के समक्ष जब अधर्म को धर्म का जामा पहनाकर प्रस्तुत किया जाता है, तो वे अधर्म को ही धर्म समझ लेते हैं । विश्व में जितने भी साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं, उनका अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि इन सभी घटनाओं का मुख्य कारण अज्ञान था । तथाकथित पाखण्डी धार्मिकों ने भोली जनता के अज्ञान का लाभ उठाकर जनता की श्रद्धा का भावनात्मक शोषण किया । उन्हें हिंसा तक करने के लिए प्रोत्साहित किया तथा कहा कि धर्म की यही माँग है । वस्तुतः यह उनकी निजी कुसंस्कारिता के प्रकटीकरण का ही एक तरीका था ।

हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, बौद्धों के बीच जो परस्पर मतभेद एवं द्वेष दिखाई पड़ता है, उसका कारण धार्मिक सिद्धान्त नहीं वरन् उनकी असम्बद्ध संकीर्ण मान्यताएं हैं । स्वरूप की विभिन्नताओं की बात जाति, वर्ग, परिस्थितियों के अनुरूप तो समझ में आती है, किन्तु जब सिद्धान्त की अनेकता एवं विभिन्नता की बात कही जाती है तो इसे विवेक स्वीकार नहीं

करता । संसार के सभी धर्म एकमत से स्वीकार करते हैं कि परमात्मा एक है । उसकी उपासना की पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, किन्तु जब ईश्वर, अल्लाह, गॉड में विभेद-विग्रह खड़ा किया जाता है तो कहना पड़ता है कि गलती सिद्धान्तों की नहीं, धर्म की नहीं, वरन् उस अविवेकपूर्ण साम्प्रदायिकता की है जिसने अपनी सीमा में उस विराट् चेतना सत्ता को सिकोड़ने एवं बाँधने की धृष्ठता की है ।

धर्म क्षेत्र की विकृति का कारण मिथ्याज्ञान है । विवेकरहित श्रद्धा ही अन्धश्रद्धा का कारण बनती तथा अधर्म को भी धर्म मान बैठती है, अन्यथा धर्म इतना सशक्त एवं महान् है कि मनुष्य की प्रत्येक समस्या का समाधान प्रस्तुत कर सके, उसके स्वस्थ स्वरूप को जन-सामान्य के समक्ष रखा जा सके, सिद्धान्तों को समझाया जा सके, तो वह जनसामान्य का सर्वांगीण विकास कर सकने में पूर्णतया समर्थ है । आवश्यकता धर्म को अनुपयोगी या अमान्य ठहराने की नहीं, वरन् यह है कि उसका नीतिपरक उदात्तस्वरूप सर्वसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत किया जाये और यह बताया जाये कि उसके साथ किसी प्रकार जुड़ गयी अन्धपरम्परायें एवं विकृतियाँ धर्म का अंग नहीं हैं ।

धार्मिकता की यथार्थता और उसकी दूरगामी प्रतिक्रिया से परिचित न होने के कारण ही लोग उसे अपनाने में उपेक्षा दिखाते हैं । यदि धर्म-धारणा को व्यावहारिक जीवन में समाविष्ट करके उत्कृष्ट गतिविधियाँ अपनाने वाले सच्चे धार्मिक व्यक्ति अपना उदाहरण प्रस्तुत कर सकें तो जन-साधारण को यह विश्वास करने में तनिक भी कठिनाई न होगी कि धार्मिकता, प्रतिगामिता नहीं, वरन् सच्चे अर्थों में प्रगतिशीलता हैं ऐसी प्रगतिशीलता जिस पर व्यक्ति और समाज का कल्याण सुनिश्चित रूप से आधारित है ।

# 9. धर्म के बिना हमारा काम नहीं चलेगा

महाभारत में कहा है–

**धर्म ही सत्पुरुषों का हित है, धर्म ही सत्पुरुषों का आश्रय है और चराचर तीनों लोक धर्म से ही चलते हैं ।**

वैदिक धर्म-शास्त्रों में धर्म का बड़ा महत्त्व है, धर्महीन व्यक्तियों को शास्त्रकारों ने पशु समान बतलाया है । 'धर्म' शब्द का अर्थ, धारण करना या पालन करना होता है । जो संसार के समस्त जीवों के कल्याण का हेतु हो, उसे ही धर्म समझना चाहिए, इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए ऋषियों में धर्म की व्यवस्था की है ।

धर्म चार प्रकार के माने गये हैं–वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, सामान्य धर्म, साधन धर्म । ब्राह्मणादि वर्णो के पालन करने योग्य भिन्न-भिन्न धर्म, वर्ण धर्म और ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का पालन करने योग्य धर्म आश्रम धर्म कहलाते हैं । 'सामान्य धर्म' उसे कहते हैं, जिसका मनुष्य मात्र पालन कर सकते हैं, उसी का नाम 'मानव धर्म' है । आत्मज्ञान के प्रतिबन्धक प्रत्ययों की निवृत्ति के लिए जो निष्काम कर्मो का अनुष्ठान होता हे, वह साधन धर्म कहलाता है । इन चारों धर्मो के यथायोग्य आचरण से ही वैदिक धर्म शास्त्रों के अनुसार मनुष्य पूर्णता को प्राप्त कर सकता है ।

इनमें से सामान्य धर्म विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि उसका पालन हर समय और सभी कर सकते हैं, परन्तु वर्णाश्रम धर्म का पालन, अपने-अपने स्थान और समय पर ही किया जा सकता है । ब्राह्मण शूद्र का या शूद्र ब्राह्मण का धर्म स्वीकार नहीं कर सकता, इसी प्रकार गृहस्थ संन्यासी का या संन्यासी गृहस्थ का धर्म नहीं पालन कर सकता, परन्तु सामान्य धर्म के पालन का अधिकार प्रत्येक नर-नारी की है, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रम का हो । इसका तात्पर्य यह नहीं कि सामान्य धर्म के पालन करने वाले को वर्णाश्रम धर्म

की आवश्यकता ही नहीं है । धर्म का आचरण करने की आवश्यकता सबकी है । अतएव किसी का भी त्याग न कर सबका समुच्चय करके यथाविधि योग्यतानुसार प्रत्येक धर्म का पालन करना चाहिए ।

शास्त्रकारों में से किसी ने सामान्य धर्म के लक्षण 8 किसी ने 10, किसी ने 12, किसी ने 15, 16 या इससे अधिक बतलाये हैं । श्रीमद्भागवत् के सप्तम स्कन्ध में इस धर्म के 30 लक्षण बतलाये हैं और वे बड़े ही महत्त्व के हैं । मनु के बतलाये धर्म के 10 लक्षण हैं—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध ।

सत्य बात तो यह है कि यही मनुष्य जाति का स्वाभाविक धर्म है । मनुष्य में मनुष्यत्व का विकास इन्हीं लक्षणों के आचरण से हो सकता है ।

धर्म और ईश्वर का विरोध करने वाले लोग कहते हैं कि धर्म को मानने की क्या आवश्यकता है? धर्म को मानने वाले लोग धर्म का यही तो लाभ बताते हैं कि उससे हमारे अन्दर सत्य, न्याय, दया, तप, त्याग और उपकार आदि चरित्र सम्बन्धी सद्गुण उत्पन्न होते हैं । हम इन चरित्र संबंधी सद्गुणों को अपने भीतर धर्म पालन के बिना उत्पन्न नहीं कर सकते हैं । परन्तु अनेक नास्तिक लोगों का यह मानना है कि ये सद्गुण प्रचुर मात्रा में धर्म का पालन न करने वालों में भी पाये जाते हैं । हम अपने व्यवहार में इन सद्गुणों को चरितार्थ करते रहेंगे तो हमें धर्म को मानकर आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, कर्मफल आदि के जंजाल में पड़ने की क्या आवश्यकता है?

धर्म विरोधियों का यह कथन ऊपर से सुनने में रोचक प्रतीत होता है । गहराई में विचार करने पर पता लगता है कि धर्म को माने बिना, आत्मा-परमात्मा की सत्ता और लोक-परलोक तथा कर्मफल के सिद्धान्त को माने बिना चरित्र संबंधी सद्गुण खड़े नहीं रह सकते । हमारी नैतिकता आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक तथा कर्मफल के सिद्धान्त पर टिकी हुई है । यदि हम नास्तिक लोगों की बात मानकर भौतिकवादी बन जायें और मानने लगे कि आत्मा नाम की कोई सत्ता नहीं है । जिसे हम आत्मा कहते हैं, वह तो

जड़ पदार्थों के संयोग का परिणाम है तो हमारी नैतिकता ठहर न सकेगी ।

जब हमारा केवल यही जन्म है और इसी में हम जो कर लें और जो सुख भोगना चाहें जो भोग लें तो हममें बुरे कर्मों से बचने की प्रवृत्ति न होगी । तब हमारे अन्दर यह प्रवृत्ति जाग उठेगी कि यह थोड़ा-सा जो समय हमारे पास है, जिसमें हम जो सुख भोगना चाहें भोग सकते हैं । इसलिये जैसे भी हो सके हमें अपने जीवन को सुखी बनाकर रखना चाहिये । इस प्रवृत्ति के वशीभूत होकर हम अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए बुरे कर्म करने से भी नहीं चूकेंगे । बुरे कर्मों का दण्ड देने वाला परमात्मा तो कोई है ही नहीं, जिसका हमें भय रहे । अगला जन्म भी कोई नहीं, जिसमें हमें अपने बुरे कर्मों का फल भोगना पड़े तो हमें बुरे कर्मों से बचकर सच्चरित्र बनने की प्रेरणा क्यों होगी ?

आत्मा-परमात्मा की सत्ता, पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धान्त को न मानकर केवल यही एक जन्म मानने की अवस्था में तो हमारा उद्देश्य केवल अपने इस वर्तमान जीवन को सुखी बनाना रह जायेगा । तब हमें अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए झूठ, फरेब, धोखाधड़ी और अन्याय, अत्याचार का भी सहारा लेना पड़े तो ले लेना चाहिए, इस प्रकार के दुराचरणों से हमें क्यों रुकना चाहिए ? भौतिकवादी नास्तिकों के पास इस प्रकार के प्रश्नों का कोई समाधान नहीं है ।

फिर एक बात और यहाँ विचारणीय है, वह यह कि आत्मा और परमात्मा को न मानने की अवस्था में अच्छे और बुरे का भेद कैसे किया जायेगा ? हमारे किसी कर्म को अच्छा या बुरा कहकर उसकी अच्छाई या बुराई का निर्णय करने वाला कोई परमात्मा या आत्मा तो है नहीं, भौतिकवादी नास्तिकों के मत में परमात्मा की सत्ता तो बिल्कुल नहीं है, आत्मा की भी वास्तविक सत्ता नहीं । उनकी दृष्टि में आत्मा भी जड़ है । जिस आत्मा की कोई पृथक् सत्ता नहीं है, जो हमारे शरीर के प्राकृतिक जड़ पदार्थों का ही एक

गुणमात्र है और जड़ है, वह आत्मा हमारे कर्मों की अच्छाई-बुराई का निर्णय किस प्रकार करेगा ? इस प्रकार हमारे कर्मों की अच्छाई-बुराई का निर्णय करने वाली कोई सत्ता न होने से हमारे कोई भी कर्म अच्छे या बुरे नहीं रहेंगे । हमारे सभी कर्म एक जैसे ही हो जायेंगे । हम जैसा चाहे कर लें । हम किसी के किसी भी कर्म को दुराचरण या अनैतिक और सदाचरण या नैतिक न कह सकेंगे ।

जिस दिन संसार से धर्म को सर्वथा मिटा दिया जायेगा, जिस दिन आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक में लोगों की आस्था न रहेगी, जिस दिन परमात्मा की भक्ति द्वारा परमात्मा के गुणों को अपने भीतर धारण करने वाले धर्मात्मा लोग सर्वथा उत्पन्न होने बंद हो जायेंगे, उस दिन संसार में सच्चरित्रता उठ जायेगी । आज लोगों में जो सच्चरित्रता दिखाई देती है उसका मूल कारण धर्म ही है ।

नास्तिक लोगों में जो कुछ सच्चरित्रता दिखाई पड़ती है, उसका मूल स्रोत भी धर्म ही है । धर्म द्वारा सिखाये गये परम्परा से चले आ रहे सच्चरित्रता के तत्त्वों को नास्तिक लोगों ने स्वीकार किया है । इसी आधार पर उनका समुदाय, सम्प्रदाय जीवित रह सकने में समर्थ हो रहा है । वस्तुतः धर्म तत्त्व इतना सार्वभौम, सर्वकालीन और शाश्वत हे कि उसे छोड़ देन से नास्तिक, आस्तिक किसी का भी काम नहीं चल सकता ।

# 10. धर्म प्रधान 'अर्थ' ही कल्याणकारी है

व्यक्तिगत जीवन और समाज को ऊँचा कैसे उठाया जाये? उनमें शान्ति, सुव्यवस्था शालीनता और सदाचार कैसे कायम किया जाये? इसके लिए भारतीय मनीषियों ने पुरुषार्थ चतुष्टय का एक सुगम उपाय बताते हुए उसे व्यक्तिगत जीवन में अपनाये जाने पर विशेष बल दिया था। परन्तु दुर्भाग्य यह है कि वह वार्तालापों के मध्य होने वाली दार्शनिक चर्चा मात्र बनकर रह गया है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह जीवन के चार महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हैं। धर्म अर्थात् नीतिमत्ता, अर्थ अर्थात् सम्पदा, काम अर्थात् कर्त्तव्यपरायणता और मोक्ष अर्थात् विदेह जैसी स्थिति, आन्तरिक आनन्द का अवतरण। जीवन के प्रस्तुत अध्यायों में से आरम्भिक तीन को सम्पन्न कर लेने मात्र से अन्तिम का सम्पादन स्वतः ही हो जाता है। इन तीनों में से भी प्रथम दो विशेष महत्त्व के बताये गये है। परन्तु आजकल तो सर्वत्र 'अर्थ' को ही प्रधानता मिली हुई है और इसी के इर्द-गिर्द जीवन घूमता रहता है।

शेष तीन की उपेक्षा हो जाने के कारण ही न तो जीवन में और न समाज में ही शान्ति और सुव्यवस्था दिखाई पड़ती है जो दिखाई पड़नी चाहिए थी। सम्प्रति व्यक्ति यदि धनकुबेर बन भी गया, तो उसे भी चैन कहाँ हैं? उसकी अशान्ति इस बात की है कि सम्पदा कहीं कोई चुरा न ले जाये, जब कि ग़रीबों को यह चिन्ता सताती रहती है, कि कुछ पैसे जुड़ जाएँ तो अमीरों जैसे ठाट अपनाय जाये और मौज-मस्ती की जाये। सम्पत्ति आज हर एक को बेचैन किये हुए हैं। आखिर इसका कारण क्या है? इन दिनों अर्थ और जीवन क्यों एक-दूसरे के पर्यायवाची बने हुए हैं? जब कि पूर्वकाल में अर्थ को अनर्थमूलक माना और उसके सीमित उपयोग पर जोर दिया जाता था।

गहन विचार मंथन से यही ज्ञात होता है कि इस लम्बे अन्तराल में मनुष्य का उत्कर्ष के बजाय उपकर्ष ही हुआ है। परमार्थपरायण बनने की

तुलना में वह अधिकाधिक स्वार्थी बना है । स्वार्थ जब जहाँ भी पैदा होता, वह निजी सुख-सुविधा की माँग करता है । सुविधाएँ अनुचित संचय और दूसरों के अधिकारों के अपहरण के बिना सम्भव नहीं । यह दोनों बातें ऐसी हैं, जो प्रच्छन्न रूप में वैभव से संबंधित हैं । संचय की आम प्रवृत्ति धन के प्रति होती है । यही हर प्रकार के संग्रह की मूल है । दौलत यदि नहीं हुई, तो दूसरे प्रकार का संचय भी असम्भव स्तर का बना रहता है, इसलिए लोग सम्पदा को ही इकट्ठा करना ज़्यादा पसंद करते हैं, क्योंकि इसके माध्यम से बाद में कोई भी अन्य सुविधा आसानी से खरीदी जा सकती है । इसी तरह अपहरण की बात जहाँ आती है, वहाँ भी अर्थलोलुपता की विकृत भावना ही दिखाई पड़ती है ।

लोग पद का, धन का, जमीन का, मकान, दुकान सामान का अपहरण करते देखे जाते हैं, क्योंकि वे सब सम्पदा के स्रोत हैं, किन्तु इन दिनों एक नये प्रकार का अपहरण बड़े पैमाने पर घटित होता देखा जा रहा है । यह है—आदमी का । व्यक्ति अपहरण के अधिकांश मामलों में अर्थ का घटना से सीधा सम्बन्ध होता है और धन के साथ ही अपहृत व्यक्ति छूट भी जाता है । कुछ ही प्रकरण उनमें ऐसे होते हैं, जिनमें घटना का सम्बन्ध सीधे रुपये पैसे से न होकर अपहर्त्ता के किसी अन्य स्वार्थ से होता है, परन्तु ऐसे मामले ऊँगलियों में गिनने जितने होते हैं । अधिकांश में इसका उद्देश्य फिरौती की रकम प्राप्त करना है । स्पष्ट है जैसे-जैसे मनुष्य में स्वार्थपरता बढ़ी, वैसे ही वैसे उसमें धन के प्रति आकर्षण भी बढ़ा है और तदनुरूप अर्थोपार्जन के नये-नये अवैध धंधे भी अस्तित्व में आये हैं ।

इसलिये पहले जो लक्ष्मी धन की पर्याय मानी जाती थी, कल्याणकारक समझी जाती थी, अब वही परेशानी का कारण बनी हुई है । भला लक्ष्मी के आगमन से किसी को कठिनाई क्यों कर होनी चाहिए? जो स्वयं मंगलकारक है, उनसे अमंगल की सम्भावना कैसे हो सकती है? ऐसा वस्तुतः लक्ष्मी सम्बन्धी तत्त्वदर्शन भली-भाँति नहीं समझ पाने के कारण ही है । लक्ष्मी का

तात्पर्य मंगल और कल्याण साधन की देवी से है। शब्दकोषों में इसीलिए लक्ष्मी को उद्योगी पुरुषों के द्वारा प्राप्य या पुरुषार्थियों को अपनाने वाली बताया गया है। स्वयं पाणिनी ने भी कुछ ऐसा ही अर्थ करते हुए—'लक्षयति पश्चति उद्योगिनं इति लक्ष्मी' कहा है। इन अर्थों से स्पष्ट है कि जहाँ पुरुषार्थ और पराक्रम होंगे, वहाँ लक्ष्मी भी होगी।

पुरुषार्थ और पराक्रम नीतिवाचक शब्द हैं, अनीतिबोधक नहीं। आज चूँकि पग-पग पर अनीति अपनायी जा रही है, इसलिए धनोपार्जन जैसा सरल मार्ग भी सर्वथा नैतिक नहीं रह सका था यों कहा जाये कि बिल्कुल अनैतिक बना हुआ है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। जहाँ पुरुषार्थ की जगह बेईमानी हो, भला वहाँ लक्ष्मी कैसे विराज सकती है? वह तो नीतिवानों की सहचरी है। इसलिए आज के अधिकांश लोग धन कमाने में सफल हो तो जाते हैं, परन्तु लक्ष्मी तत्त्व के अभाव में सदा अशान्त और असन्तुष्ट बने रहते हैं।

आर्ष साहित्य में असुर शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो न स्वयं चैन से रहते, न दूसरों को रहने देते हैं। इस बिंदु पर वर्तमान धनाध्यक्षों की मनोदशा भी ठीक उन जैसी ही दिखाई पड़ती है। यह बात और है कि वे वैसे अवांछनीय आचरण में निरत नहीं रहते, पर मानसिक अस्थिरता उन्हें बेचैन तो बनाये ही रहती है। ऋग्वेद में ऐसे ही कितने ही मंत्र है, जिनसे विदित होता है कि असुरों की सम्पदा देवताओं की तुलना में कहीं अधिक थी। इन की रक्षा में ही निमग्न रहने के कारण वे राक्षस हो गये, जबकि देवता वे कहलाये, जो अपरिग्रहपूर्वक रहते और अभावग्रस्तों को दान करके खाते थे, अतएव वे लक्ष्मीवन बने रहे।

प्राचीन समय में वस्तुतः सम्पदा की अपेक्षा श्री की प्रतिष्ठा थी। यही कारण है कि तब समाज में हर प्रकार से शान्ति बनी हुई थी। जहाँ श्री रहेगी, वहाँ समृद्धि और संतोष होना स्वाभाविक है। वर्तमान में सम्पत्ति सर्वोपरि है। लक्ष्मी की स्थापना की बात तो बाद में सोची जाती है। जहाँ वैभव आगे और

'श्री' पीछे हो, वहाँ लक्ष्मी का कोई महत्त्व रह नहीं जाता। ऐसी स्थिति में नियंत्रणकारी अंकुश लक्ष्मी के पास न रहकर धनवान् के हाथ में आ जाता है। जब मंगल चाहने वाली देवी को दौलत पर नियमन ही नहीं रहा, तो उसके दुरुपयोग की बात कैसे सोची जा सकती है? जहाँ दुरुपयोग होगा, वहाँ दुर्गति भी पैदा होगी। इससे व्यक्ति में असन्तोष और समाज में अराजकता उत्पन्न होना सुनिश्चित है। यही आज की स्थिति है।

प्रस्तुत दशा से बचने के लिए ही हर भारतीयों के घर में प्रतिवर्ष कार्तिक अमावस्या के दिन लक्ष्मी की पूजा की जाती है। यह पूजन जहाँ आडम्बरयुक्त उपचार बनकर रहा, वहाँ की स्थिति में सुधार की रत्ती भर भी गुंजाइश नहीं रहती, किन्तु जहाँ लक्ष्मी के तत्त्वदर्शन को हृदयंगम करते हुए उसे व्यावहारिक जीवन में अपनाने का प्रयास किया जाता है, वहाँ श्री वृद्धि प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। प्रतिवर्ष लक्ष्मी उपासना का विधान इसलिए भी है कि जिस आदर्श को जीवन का अभिन्न अंग बनाये रखने का संकल्प लिया गया था, वह कहीं विस्मृत न हो जाये और ज़िन्दगी आदर्शहीन-श्रीहीन होकर न रह जाये, इस निमित्त भी लक्ष्मी की आराधना की जाती है।

परन्तु इन दिनों तो इस पूजा का अर्थ देवी की उपासना से मालामाल हो जाना लगाया जाता है। यही सबसे बड़ी विडम्बना है। यदि ऐसी बात रही होती, तो लक्ष्मीनारायण मंदिर के पुजारी अब तक विपुल वैभव के स्वामी बन गये होते, परन्तु वर्षों की पूजा के बाद भी उनके जीवन में ऐसा कुछ घटित होते कहाँ देखा जाता है? इससे स्पष्ट है कि लक्ष्मी अर्थतंत्र के श्रेष्ठतम सदुपयोग और सुनियोजन की देवी है। गाँवों में कन्या को प्रायः लक्ष्मी कहा जाता है। यहाँ का भाव उसकी उपस्थिति से पिता के धनपति बनने जैसा नहीं, वरन् इतना है कि वह अपने व्यवस्था-कौशल से घर को एक सुखद-सुन्दर वातावरण प्रदान करती है। सही अर्थों में देवी लक्ष्मी की भूमिका भी इतनी ही है।

इस प्रकार अर्थ-अनर्थ के बीच का भेद समझने और लक्ष्मी सम्बन्धी तत्त्वदर्शन के अपना लेने के उपरान्त कोई कारण नहीं कि शेष तीन पुरुषार्थ साथ-साथ सम्पादित न होते चलें । जहाँ अर्थतंत्र की नियामक श्री रहेगी, वहाँ धर्म तत्त्व भी रहेगा और कर्त्तव्यपरायणता भी निभाती चलेगी । इन तीनों के समन्वय से जीते जी मोक्ष जैसा आनन्द न मिले यह हो नहीं सकता । इस तरह जिस समाज में उक्त चारों पुरुषार्थ का संतुलन समीकरण बना रहेगा, वहाँ धरती पर देवता निवास करेंगे और वह धरती स्वर्ग जैसी सुखद एवं सुन्दर होगी, इसमें दो मत नहीं ।

# 11. धर्म क्यों उपयोगी और आवश्यक है?

यह ठीक है कि धर्म की दुहाई देते हुए कितने ही लोग पूरी तरह या आंशिक रूप से अधर्म का आचरण करते देखे जाते हैं, परन्तु इतने से ही धर्म की उपयोगिता या आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती। सोचा यह जाना चाहिए कि धर्म-धारणा का दबाव रहते भी जब उसकी मर्यादाओं का उल्लंघन करने से नहीं चूकते, तो जब उस अनुशासन की पूरी तरह समाप्ति हो जायेगी, तब स्थिति कितनी भयंकर होगी। यह भी ठीक है कि धर्मों की मान्यता रखने वालों ने इसी आधार पर एक-दूसरे के लिए सिर काटे हैं और अपने को सही तथा दूसरों को गलत बताने में दुराग्रह का काम लिया है। इतने पर भी यह नहीं कहना चाहिये कि मनुष्यों में पाई जाने वाली दुष्प्रवृत्तियाँ धर्म के अनुबन्ध हटाते ही समाप्त हो जायेंगी और फिर लड़ने-झगड़ने का कोई कारण शेष न रहेगा।

कुत्ते आपस में क्यों लड़ते हैं? बड़ी मछली छोटी को क्यों निगल जाती है? हिंस्र पशु आये दिन दुर्बलों पर क्यों आक्रमण करते हैं? सर्प और बिच्छुओं को अकारण सताते क्यों देखा जाता है? व्याघ्र अपने क्षेत्र में क्यों दूसरे सजातीयों को सहन नहीं करते? इस विग्रह का कारण धर्म नहीं वरन् स्वार्थ और अहंकार है। लड़ता और लड़ाता वही है। यदि धर्म का आवरण हटा दिया जाये तो भी यह आक्रामक प्रवृत्ति बनी ही रहेगी और इस कारण न सही अन्य किसी आधार पर अपनी अहंता की पूर्ति के लिए आक्रामक ही बनी रहेगी। स्वार्थ ही कलह को जन्म देते हैं। उन्हीं के टकराव से रक्तपात होते हैं। इसके लिए धर्म क्षेत्र की अहंता भी एक कारण हो सकती है। परन्तु यह नहीं माना जाना चाहिये कि विद्वेष और रक्तपात की जड़ धर्म-धारणा में सन्निहित है।

यदि ऐसा होता तो एक ही धर्म वाले आपस में न लड़ते। पहले और

दूसरे विश्वयुद्धों में परस्पर रक्तपात करने वाले दोनों ही पक्ष ईसाई धर्म की मान्यता वाले थे। उनमें एकता रहनी चाहिए थी, पर जब लड़ना ही ठहरा तो धर्म की एकता से कुछ काम बना नहीं और रक्तपात से धरती रंग गई।

भारत में चिरकाल से वैदिक धर्मानुयायी रहते आये हैं। कौरव और पाण्डव दोनों ही पक्ष आस्तिक एवं एक ही धर्म की मान्यता वाले थे। सामन्तों के बीच मध्यकाल के अंधकार युग में आये दिन लड़ाइयाँ होती रही हैं। पुरातन काल में कम युद्ध नहीं हुए। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि की एकता होते हुए भी उन धर्मों के अनुयायी परस्पर लड़े बिना रहे नहीं, जबकि धार्मिक भिन्नता रहते भी एकता और एकात्मता के उदाहरण कम नहीं हैं।

धर्म का वास्तविक उद्देश्य नीति, धर्म, सदाचार और उदार व्यवहार के लिए मनुष्य को प्रशिक्षित करना है। इस दृष्टि से उन सभी के बीच मौलिक एकता विद्यमान हैं प्रथा-प्रचलन को धर्म का प्राण नहीं, आच्छादन-आवरण माना गया है। उनकी भिन्नता रहने पर भी परस्पर एकता एवं सद्भावना में अड़चन पड़ने जैसा कोई कारण नहीं। जब अलग-अलग प्रकार के भोजन, वस्त्र एवं विनोद उपक्रमों में अलग पसन्दगी होने पर भी बिना टकराए मिल-जुलकर निर्वाह कर सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि धर्मों की भिन्नता में टकराए बिना काम न चल सके। लड़ाई धर्म और अधर्म में होती है। देव और दस्युओं में ही होती है। न्याय और अन्याय में होती है। इसका होना स्वाभाविक ही है।

मर्यादाओं को तोड़ने में क्या देर लगने वाली है? उच्छृंखलता की गणना पशु-प्रवृतियों में होती है। उस शालीनता के अनुबन्ध पालने में अनख लगता है। स्वेच्छाचार सभी कृमि-कीटक बरतते हैं। नीति और सदाचार के बन्धन पालने के लिए व्यवहारगत सभ्यता और चरित्रगत सुसंकारिता का अनुशासन चिरकाल के प्रयत्नों से ही बन पड़ता है। सभ्यता और सुसंकारिता का समन्वय ही धर्म है। इसे अपनाने से मनुष्य संयम सीखता, मर्यादा-पालन का

अभ्यास करता है । उदार बनने और संयम अपनाने के लिए भी उसमें दबाव डाला गया है । इन तथ्यों के समन्वय से धर्म पूर्णतया न सही आंशिक रूप में व्यक्ति और समाज को नीतिवान बनाने की ही भूमिका निभाता रहा है ।

माना कि जितना प्रतिफल धर्म-धारणा का होना चाहिए था, उतना नहीं हुआ और उस आचरण के पीछे अवांछनीय को भी प्रश्रय मिलता रहा है । इतने पर वह समग्र विधा ऐसी नहीं है, जिसे अस्वीकार कर दिया जाये और सर्वसाधारण को अधर्मी बनने के लिए प्रोत्साहित किया जाये ।

# 12. धर्मों का मूलोद्देश्य प्रकाश में आये

धर्मों का प्रचलन और प्रादुर्भाव आदर्शवादी श्रद्धा सद्भावना के बीजारोपण, अभिवर्द्धन के निमित्त हुआ है। उनके निर्माताओं ने अपने-अपने समय और क्षेत्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए ऐसा दर्शन एवं प्रचलन खड़ा किया, जो व्यक्ति एवं समाज को नैतिक दृष्टि से अधिक समुन्नत बनाने में समर्थ हो सके। पुराने प्रचलन में कालविपर्यय से जीर्णता के साथ-साथ अवांछनीयता, रूढ़िवादिता भी घुसने लगती है। जब उसका अनुपात बढ़ता है, तो सुधार-परिवर्तन के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता। पुराने धर्मों का स्थान ग्रहण करने वाले नये धर्मों का प्रचलन इसी आधार पर हुआ है। जब वे सुधारवादी संस्थापन भी कालान्तर में रूढ़िग्रस्त हो जाते हैं तो उन्हें भी नये ढाँचे में ढालने, बदलने की आवश्यकता पड़ती है।

संसार के प्रचलित धर्मों में ईसाई, इस्लाम, बौद्ध, वैदिक सनातन धर्म आदि के अनुयाइयों की संख्या अधिक है। छोटी-छोटी संख्या में अपने-अपने क्षेत्रों में अन्याय धर्म भी प्रचलित हैं। इनमें से कई धर्मों की परम्परायें बड़ी शानदार हैं। इस सन्दर्भ में बुद्ध धर्म की चर्चा अधिक उत्साह के साथ की जाती है। आरम्भ में वह बहुत छोटा था परन्तु देखते-देखते कुछ ही समय में बहुत प्रभावी एवं व्यापक बन गया।

कई धर्म मात्र पूजा, पाठ, जप, ध्यान, व्रत उपवास आदि कर्मकाण्डों पर अधिक जोर देते रहे हैं और जिस आधार पर ईश्वर की कृपा तथा सांसारिक ऋद्धि-सिद्धि मिलने की बात तक सीमित रहे हैं, किन्तु जिनमें विचारशीलता रही है उन्होंने सदाचार, सद्व्यवहार पर जोर दिया है और साधनों को लोकमंगल में लगाने पर विशेष जोर दिया है। समझदार वर्ग में उनको अपेक्षाकृत अधिक सराहा और अपनाया गया है। ऐसे धर्मों में कइयों की गणना विशेष रूप में होती है। इस पंक्ति में बौद्ध धर्म की चर्चा प्रधान रूप

में की गई है । अब भले ही उसके जीवित आदर्श वृहत्तर भारत एवं एशिया के नक्शे में कहीं-कहीं ही विद्यमान हों, लेकिन यह एक तथ्य है कि इसका मूलभूत आधार एवं तत्त्वदर्शन कितना मजबूत श्रेष्ठता से युक्त था । समय के अनुरूप जिन प्रचलनों की आवश्यकता थी, अवतार परम्परा ने यही व्यवस्था की और धर्म चक्र प्रवर्तन की गतिविधियाँ विश्व भर में चल पड़ी ।

अस्पृश्यता, बाह्य आडम्बर, कर्मकाण्ड आदि समस्याओं के निवारणार्थ आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने इस सामाजिक क्रान्ति का उद्घोष किया था । अपनी छः वर्ष की कठिन तपस्या के उपरान्त उन्होंने सर्वप्रथम बनारस के समीप सारनाथ नामक स्थान में उपदेश ज्ञापन किया था । फलस्वरूप यहाँ पर उनके पाँच शिष्यों की एक मंडली तैयार हुई । यहीं से बौद्ध धर्म अभियान की नींव स्थापित हुई । आगे चलकर अस्सी परिव्रजा करने वाले बौद्ध भिक्षुओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिन का मूल उद्देश्य धर्म प्रचार था । इन्हें अस्सी महाश्रावक के नाम से पुकारा जाता था ।

महात्मा बुद्ध की 80 वर्ष की आयु में उनके महानिर्वाण के समय तक मगध के महाराज बिम्बसार अजातशत्रु तथा कपिलवस्तु के महाराज शुद्धोधन और बुद्ध के राजकुमार राहुल ने भी बौद्ध धर्म अंगीकृत कर लिया था । हृदय विदारक कलिंग युद्ध के पश्चात् सम्राट् अशोक ने भी बौद्ध धर्म अपना लिया । साथ ही उसने बौद्ध धर्म के प्रचार में अपना धन व जनशक्ति को भी समर्पित कर दिया । प्रथम शताब्दी में कनिष्क का आविर्भाव हुआ, जो बौद्ध धर्म के प्रचार के क्षेत्र में द्वितीय अशोक माना गया । विदेशी होते हुए भी उसने अपना समस्त जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार में समर्पित कर दिया ।

पाँचवीं शताब्दी से 12वीं शताब्दी के बीच बौद्ध धर्म का समस्त एशिया तथा अन्यान्य देशों में भी व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ । कई देशों में तो यह मूल धर्म के रूप में स्वीकार किया गया । नालन्दा तक्षशिला विश्वविद्यालयों में धर्म

प्रचारकों को प्रशिक्षित करके उन्हें देश-देशान्तरों में भेजकर बौद्धिक क्रान्ति का शंख बजाया गया। यह प्रयास धर्म चक्र प्रवर्तन नाम से प्रख्यात हुआ।

छठी शताब्दी में जापान का राजकुमार शोटोक् बुद्ध दर्शन से प्रभावित हुआ। उसने शासन की बागडोर सम्भालते ही स्वेच्छापूर्वक ऐसे सुधार कर दिये जिनके लिए जनता के आन्दोलनों को सफलता मिल नहीं पा रही थी। उसने वंश वर्चस्व समाप्त कर दिया। बिखरी जातियों को मिलाकर एक किया और शासन व्यवस्था ऐसी बनाई, जिसमें उपलब्ध राजस्व का अधिकांश भाग जनकल्याण के कामों में लगे। शासक समुदाय व सेना की संख्या कम की गई और उस निमित्त खर्च होने वाली राशि में भारी कटौती हो गई।

ईरान के ऐफीयोण्ड शासकों पर जरथुस्त का प्रभाव पड़ा तो उन्होंने संत जीवन की दिशा में कदम बढ़ाये और ऐसे सुधार किये जिससे न केवल शासक वर्ग को विनम्र, सदाचारी बनना पड़ा, वरन् प्रजाजनों में भी सद्भावना का अनुपात कहीं अधिक बढ़ गया। अपराधों की संख्या नाममात्र ही रह गई। उसे देश के एक सम्राट् डेरियस ने जगह-जगह ऐसे शिलालेख लगवाये जिनमें नैतिक शिक्षाओं की भरमार थी। इस प्रकार का लोक-शिक्षण इन दिनों के लोक-चिन्तन को बदलने में बहुत सहायक हुआ। उपलब्ध साधनों में यही श्रेष्ठतम भी था इन सबके ध्वंसावशेष अभी भी विद्यमान हैं।

क्रिश्चियन शासक कॉस्टेन्टाइन ने धार्मिक चिह्न पूजा तक सीमित न रहकर जनता को धर्म प्रिय बनाने का योजनाबद्ध आन्दोलन चलाया। उसका ढाँचा खड़ा किया और निर्धारण को कार्यान्वित करने के लिए विपुल धन जुटाया, इसमें चर्चों ने भी योगदान दिया। फलतः क्रिश्चियन शान्ति आन्दोलन का इन दिनों तूफानी प्रवाह चल पड़ा। इसके दूरगामी परिणाम हुए। कुलीनों ने अपने परम्परागत विशेष अधिकार छोड़ दिये, आये दिन लड़ते रहने वाले छोटे-छोटे देशों ने मिल-जुलकर मेत्री संघ बनाये। झंझटों को मिटाने के लिए पंचायती न्यायालय बढ़े। इतना ही नहीं पिछड़े हुए असभ्य समुदाय के क्षेत्रों में प्रवेश करके उन्हें सभ्य बनाने के ऐसे प्रयास चल पड़े,

जिससे आये दिन खड़े होने वाले उपद्रवों और संकटों का शान्तिपूर्व ढंग से निराकरण हो गया। एक नई सुसंस्कृत पीढ़ी सामने आई।

ताओ धर्म किसी समय उत्तरी एशिया के सुविस्तृत क्षेत्र में प्रचलित था। उसने (वू/वे) अर्थात् बुरे कर्मों के परित्याग पर बहुत जोर दिया। फलतः युद्धों और अपराधों का सिलसिला बहुत हद तक रुका और लोग इस प्रकार सोचने के लिए आगे बढ़े जिससे सुख-शान्ति का वातावरण बने और मिल-जुलकर प्रगति करने की प्रवृत्ति पनपे।

ताओ धर्म के प्रसिद्ध प्रचारक लाओ त्जू एवं चुआ नंगजू के प्रतिपादन चीन में चौथी से छठी सदी तक जन-साधारण को प्रभावित करते रहे। उस विचारधारा पर बुद्ध दर्शन की गहरी छाप है जिसमें बुरे कर्मों से बचने और पारस्परिक सद्भाव सद्व्यवहार करने की शिक्षा है। जब तब ताओ मत अपनी दार्शनिक प्रखरता बनाये रहा, तब उसने उन-जीवन को सुखी समुन्नत और सभ्य बनाने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

शीन्दो जापान का एक अति प्राचीनतम राष्ट्रीय धर्म हैं विशेषतया इस शब्द का प्रयोग बौद्ध धर्म में पृथक् अपने राष्ट्रीय धर्म को पहचानने के उद्देश्य से छठी सदी में किया गया था। जापान का सामाजिक जन-जीवन इस धर्म से आमूलचूल प्रभावित हुआ। शीन्टो का मूलाधार ईश्वरी सत्ता के प्रति अटूट विश्वास था। जीवन के प्रति इनका मुख्य दर्शन जागरूकता, स्वच्छ हृदय, शालीन व्यवहार एवं ईमानदारी के ऊपर आधारित था। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर का पुत्र स्वीकृत किया था, अतः प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना उनका मूल कर्त्तव्य घोषित किया गया था।

द्वितीय विश्वयुद्ध आते-आते शिन्टो धर्म राजनीति का भी एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया था। शासक वर्ग का प्रमुख कर्त्तव्य धार्मिक चेतना जाग्रत करना तथा राजनैतिक प्रक्रियाओं का विकास करना थां 1945 तक जापान में 210 मण्डल एवं 1,10,000 स्थापित मन्दिर थे। ईसाई तथा इस्लाम धर्म ने भी अपने ढंग से व्यक्ति की कर्त्तव्यपरायण, न्यायनिष्ठ एवं

उदार बनाने का शिक्षण दिया तथा मान्यताओं एवं कर्मकाण्डों का ऐसा ढाँचा बनाया, जिसके आधार पर मनुष्य की सदाशयता बढ़ सके ।

आज जब कि हर क्षेत्र में विकृतियों की भरमार है, तब धर्म सम्प्रदाय भी उसकी छूत से कैसे बच सकते हैं? निहित स्वार्थों की घुसपैठ हुई तो अलगाव और अहमन्यता, असहिष्णुता की दुष्प्रवृत्तियाँ भी उनमें घुस पड़ी और विचारशील वर्ग में धर्म को सम्प्रदायवाद कहा और अनुपयोगी ठहराया जाने लगा । आज ऐसी ही विडम्बना हर क्षेत्र में बढ़ रही है । धर्म कलह और अन्धविश्वास के केन्द्र समझे जा रहे थे ।

बुद्धिजीवी वर्ग के क्रमशः नास्तिक बनते चले जाने में धर्म क्षेत्र में घुस पड़ी दुष्प्रवृत्तियों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है । विकृतियों के दलदल से सम्प्रदायवाद की संकीर्णता से निकलकर जब तक परिशोभित धर्म विकसित नहीं होता, दान-पुण्य के नाम पर धर्म की आड़ में बहुसंख्य जनता का शोषण होता ही रहेगा । इसके लिए जितनी चेतना के जागरण की आवश्यकता है, उतनी ही धर्माचार्यों, मठाधीशों के चिन्तन को उदारवादी बनाने हेतु साहस जुटाने की भी है । यह कार्य संगठित जन-शक्ति निश्चित रूप से कर सकती है । यदि यह सम्भव हो सका तो आज दृश्यमान विग्रह-उद्धत स्वेच्छाचार कहीं दिखाई नहीं पड़ेगा, तभी राष्ट्र या विश्व धर्म सहिष्णु, धर्म-निरपेक्ष कहा जा सकेगा । आज की आवश्यकतानुसार यह उत्तरदायित्व मनीषी वर्ग का है ।

समय की माँग है कि धर्मों का सार तत्त्व लेकर एक मानव धर्म बने । उसका प्रयोजन दार्शनिक विवादों में फँसना नहीं, वरन् यह होना चाहिए कि मनुष्य को कर्त्तव्यपरायण एवं समाजनिष्ठ बनाने की प्रेरणा प्रदान कर सके । ऐसा धर्म ही नवसृजन की दिशा में मनुष्य को आगे बढ़ा सकने में समर्थ हो सकता है ।

# 13. धर्म का सच्चा स्वरूप

धर्म वह वस्तु है जिसकी रक्षा करने से हमारी रक्षा होती है। **'धर्म रक्षति रक्षितः'** का सिद्धान्त ही सत्य है। मनुष्य बड़ा स्वार्थी जीव है, उसने हर दिशा में पहले यह देखा है कि इस कार्य को करने से मेरा कितना हित होगा, तत्पश्चात् उस कार्य को आरम्भ किया है। गाय, भैंस, घोड़े, बकरी आदि की वह रक्षा करता है, क्योंकि बदले में वह भी मनुष्य की सम्पत्ति तथा तन्दरुस्ती की रक्षा करते हैं, बढ़ाते हैं। सियार, भेड़िया, हिरन, लोमड़ी, चीता, कछुआ आदि को आमतौर से नहीं पाला जाता, क्योंकि इनकी रक्षा करने से मनुष्य की रक्षा नहीं होती। यही बात हर दिशा में है, व्यापार, विवाह, मित्रता, कुटुम्ब पालन, विद्या-व्यायाम आदि को इसलिए उचित ठहराया गया है कि इनके द्वारा व्यक्ति को सुख मिलता है। जिस कार्य से किसी अच्छे प्रतिफल की आशा नहीं होती, उसमें कोई दिलचस्पी नहीं लेता।

धर्म को व्यक्ति ने बहुत बड़ी वस्तु माना है। छोटे-मोटे सुखों को त्यागकर और कष्टों को अपना कर भी वह धर्म के लिए प्रयत्नशील रहता है, क्योंकि लाखों वर्षों का अनुभव यह सिखाता है कि धर्म की रक्षा करने से अपनी रक्षा होती है। रक्षक, पहरेदार, चौकीदार, सैनिक आदि रक्षा करने वाले व्यक्तियों को पैसा खर्च करके भी अपने पास रखा करते हैं, क्योंकि यह बात अनुभव में आ चुकी है कि इनके द्वारा आने वाली आपत्तियों और हानियों से बचाव होता है। यदि यह बात न होती तो कोई भी पहरेदारों को न रखता। इसी प्रकार धर्म को भली-भाँति परख लिया गया है कि वह हमारी रक्षा करता है, इसीलिए लोग धर्म की रक्षा करना उचित समझते हैं। यदि उसमें यह गुण न होता तो कोई उसे स्वीकार न करता।

गोपालन, तुलसी-स्थापना, गंगास्नान, तीर्थयात्रा, एकादशी व्रत, ब्रह्मचर्य आदि कार्यों को धर्म माना गया है। इस मान्यता से पहले परीक्षा कर ली गई है कि यह कार्य लाभदायक है। गाय पालन से दूध, गोबर और बछड़े

मिलते हैं । तुलसी अनेक रोग को दूर करने वाली एक अमोघ औषधि है । गंगा के जल में ऐसे रासायनिक तत्त्व पाये जाते हैं जो स्वास्थ्य सुधार के लिए उपयोगी हैं । तीर्थ यात्रा में देशाटन के अनुभव, सत्पुरुषों का सत्संग और वायु परिवर्तन होता है । एकादशी व्रत रखने 15 दिन का कब्ज़ पच जाता है । ब्रह्मचर्य से शरीर बलवान् रहता है । इन प्रत्यक्ष लाभों की आकर्षण शक्ति ने ही व्यक्ति को धर्म के साथ बाँध रखा है, अन्यथा यह स्वार्थी जीव कब का धर्म को भूल चुका होता ।

जहाँ श्रेष्ठता होती है, वहाँ कुछ बुराइयाँ भी घुस जाती हैं । धर्म पालन को लोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण समझते हैं और उसके लिए त्याग भी करते हैं । यह देखकर स्वार्थपरता जो कि हर एक क्षेत्र में पाई जाती है - जागृत हुई और अनुचित रूप से व्यक्तिगत लाभ उठाने के आडम्बर रचे गये । धर्मगुरुओं में जहाँ अधिकांश श्रेष्ठ पुरुष थे और रक्षा करने वाले धर्म का उपदेश दिया करते थे, वहाँ कुछ ऐसे ओछी मनोवृत्ति के लोग भी गुरुओं में मिल गये जिन्होंने व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा से नकली बातों को धर्म में जोड़ दिया । कालान्तर में वह असली और नकली बातें एक-दूसरे के साथ मिलकर ऐसी शक्ल में आ गई, आज यह पहचानने में कठिनाई होती है कि हमारे सामने धर्म का जो स्वरूप उपस्थित है उसमें कितनी बातें असली और कितनी नकली हैं ?

इस असली-नकली के सम्मिश्रण के कारण परिस्थिति ऐसी बन गई है ि धर्म के नाम पर जो कार्य किये जाते हैं, उनमें से बहुत से पुण्य और बहुत से पाप होते हैं । आज नकली की मात्रा असली से अधिक हो गई है, इसलिए धर्म के नाम पर जो कुछ किया जाता है, उसमें पुण्य का भाग कम और पाप का अधिक होता है । धर्म के निमित्त जो कुछ जमा करते हैं, वह फूटे पैंदे के घड़े में होकर नीचे बह जाता है । फलतः अपनी सम्पूर्ण शक्ति का पाँचवाँ हिस्सा धर्म के लिए खर्च करते हुए भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, लाभ के बदले उल्टी हानि दिखाई पड़ती है ।

धर्म के नाम पर पलने वाले व्यक्ति और धर्म के नाम पर चलने वाले

संस्थानों के कार्यों पर जब हम गम्भीर दृष्टिपात करते हैं तो उनके द्वारा उन्नति की अपेक्षा अवनति के तत्त्व अधिक दिखाई पड़ते हैं। धर्म जिनकी घर-गृहस्थी का पूरा-पूरा खर्च चलाता है, उनसे यह भी आशा करता है कि बदले में वे लोकहित की साधना करें। जनता जिन लोगों का पेट पालती है, जिनके जीवन की रक्षा करती है उन्हें भी उचित है कि बदले में जनता की रक्षा का कार्य करें, यही तो धर्म है। नौकरी और दान में यह अन्तर है कि नौकर तो जितने पैसे लेता है, उतना ही काम करके छुट्टी पा जाता है, परन्तु दान लेने वालों का उत्तरदायित्व अत्यधिक है। क्योंकि उसने पैसे के अतिरिक्त श्रद्धा को भी प्राप्त किया हैं इसलिये उसे नौकरी की अपेक्षा कई गुना अधिक काम करके धर्म की मर्यादा की रक्षा करनी है। इस प्रकार धर्म के नाम पर चलने वाली संस्थाओं का कर्त्तव्य है कि यजमानों के हित साधने के लिए प्राप्त पैसे की अपेक्षा कई गुना काम करके दिखावें, परन्तु हम देखते हैं कि धर्म के नाम पर पलने वाला व्यक्ति और संस्थान दोनों ही इस कसौटी पर कसे जाने के उपरान्त खरे नहीं उतरते। नकली कामों का फल भी नकली ही होगा। इस युग की शिकायत है—

**हमारी पंचमांश शक्ति को धर्म खा जाता है, परन्तु बदले में झूठी कल्पनाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं देता।**

इस शिकायत के उत्तर में हमारा कथन है कि आप जिसको अपनी शक्तियाँ सौंप रहे हैं वह धर्म नहीं हैं क्योंकि धर्म एक प्रकार की उर्वरा भूमि है, जिसमें बोया हुआ बीज कई गुना होकर लौटता है। धर्म में नक़द होने की विशेषता है। इस हाथ लेकर उस हाथ देने का उसमें स्वाभाविक गुण है। जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी अवश्यमेव रक्षा करता है। यदि किसी प्रकार का प्रत्युपकार प्राप्त न हो तो समझना चाहिए यह नकली चीज है। जिसमें न तो गर्मी हो, न चमक वह अग्नि नहीं कही जा सकती है। इसी प्रकार रक्षा करने पर भी जो न तो सुख में वृद्धि करता है और न विपत्तियों से रक्षा करता है, वह धर्म नहीं है। यदि हम लोग वास्तविक धर्म की उपासना करते

होते तो आज पतित, पराधीन, क्षुधार्त, बीमार, बेकार और तरह-तरह से दीन-हीन न होते। धर्म के साधक की यह दुर्गति तीन काल में भी नहीं होती। बहुत कुछ खोने के पश्चात् बहुत कुछ ठोकरें खाने के पश्चात् अब हमें होश में आना होगा और उस वास्तविक धर्म को ढूंढना होगा जिसकी शरण में जाने से व्यक्ति की सब प्रकार की आधि-व्याधि मिट जाती है, सब प्रकार के क्लेश-कष्टों से छुटकारा मिल जाता है। धर्म और अधर्म की व्याख्या करते हुए पंचाध्यायी में एक बहुत महत्त्वपूर्ण श्लोक कहा गया है—

**शक्तिः पुण्यं पुण्य फलं सम्पच्च सम्पदः सुखम्।**

**अतोहि चयनं शक्तेर्यतो धर्म सुखावहः।।**

शक्ति पुण्य है, पुण्य का फल वैभव है और वैभव से सुख प्राप्त होता है। इसलिए निश्चय से शक्ति का संचय सुखकारक धर्म माना गया है।

उपरोक्त श्लोक में सच्चे धर्म का वास्तविक मर्म खोलकर रख दिया गया है। जिससे अपनी-अपनी समाज की शक्ति बढ़ती है, वह धर्म है। विद्या, स्वास्थ्य, धन, प्रतिष्ठा, पवित्रता, संगठन, सच्चरित्रता यह सात महाबल माने गये हैं, जिन कार्यों से इन सात मार्गों में अपनी या अपने समाज की उन्नति होती हो, धर्म-साधना के निमित्त उन्हीं कार्यों को करना-अपनाना चाहिये। स्वयं इन सातों बलों को अपने पास एकत्रित करना धर्म-कर्त्तव्य समझ कर सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिये और महासम्पत्तियाँ दूसरों को भी प्राप्त हों।

इसके लिए परोपकार भावना के साथ उद्योग करना चाहिए। ऐसी सभा-संस्थाओं का स्थापन, संचालन और सहयोग करना चाहिये जो स्वास्थ्य की उन्नति करती हों, जिनके द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती हो, आर्थिक दशा सुधरती हो, गन्दगी, मलीनता, कुरुचि हटती हो, मेल, ऐक्य, भ्रातृभाव बढ़ता हो तथा सद्गुणों में सदाचार में, न्याय में उन्नति होती हो। बलों की वृद्धि करना ही धर्म-साधना का प्रधान कार्य है। रक्षा करने का एकमात्र हथियार

'घात' है। धर्म का गुण रक्षा करना माना गया है। इसलिये वे ही कार्य धर्म ठहराये जा सकते हैं जिनके द्वारा हमारा व्यक्तिगत और सामूहिक बल बढ़ता हो उन्नति होती हो, सुख बढ़ता हो और आत्मरक्षा की क्षमता प्राप्त होती हो।

जो व्यक्ति उपरोक्त प्रकार के कामों में जितने परिश्रम और लगन के साथ जुटे हुए हों, उन्हें उतना ही बड़ा धर्मात्मा मानना चाहिये। इसी तरह के व्यक्तियों को और कार्यों को बढ़ाने के लिए अपना प्रभाव, समय और पैसा लगाना चाहिये। वास्तविक धर्म यही है। इसी मर्यादा में वे लोग भी आ जाते हैं जो किसी विपत्ति में फँस गये हैं, अपाहिज, असमर्थ, बालक, वृद्ध आदि ऐसे लोग जो अपनी शक्ति से अपना जीवनयापन स्वयं नहीं कर सकते तथा ऐसे लोग जो आकस्मिक विपत्ति में पड़ गये हैं, जैसे—बाढ़, अकाल, अग्निकाण्ड, चोट, दुर्घटना, रोग, अन्याय आदि के सताये हुए हैं। इन असमर्थों और पीड़ितों की सहायता करना भी मानव का कर्त्तव्य है, ऐसे कर्त्तव्यपालन को दयाधर्म कहते हैं।

यह ध्यान रखना चाहिए कि अपनी उदारता से कहीं निठल्ले, बदमाश और ढोंगियों को सहायता न मिलती हो, ऐसे लोगों की सहायता करना उनके निठल्लेपन, बदमाशी और ढोंग को और अधिक प्रोत्साहन देना है जो कि एक प्रकार का पाप ही है। ऐसी सहायता देने वाले को उल्टा पाप लगता है। भिक्षा एवं दान के ऊपर जीवन-निर्वाह करने का अधिकार अपाहिजों और लोक-सेवी व्यक्तियों को है, पीड़ितों को उतनी मात्रा में सहायता लेने का हक है जिससे वे फिर अपने पाँवों पर खड़े हो जावें। इसके अतिरिक्त और किसी को भी न भिक्षा लेनी चाहिये और न देनी चाहिये। ईश्वर भजन व्यक्तिगत आवश्यकता है, जैसे भोजन करना, पानी पीना, स्नान करना आदि। कोई आदमी इसलिए भिक्षा नहीं माँगता है कि मैं भोजन करता हूँ, पानी पीता हूँ,स्नान करता हूँ, शौच जाता हूँ, यह तो हर आदमी के दैनिक कर्त्तव्य हैं, जिन्हें करने के लिए किसी पर एहसान जताने की या धर्मात्मा बनने की जरूरत नहीं पड़ती। कोई व्यक्ति अधिक समय तक भजन करता है, अधिक

ईश्वरभक्त है तो यह इसकी व्यक्तिगत महत्ता है, उनका अपना निजी लाभ है। निजी लाभ को स्वर्ग मुक्ति को कमाने में लगे हुए व्यक्ति दान या भिक्षा की आशा क्यों करें?

हमें सच्चे धर्म को पहचानने की और उसी की रक्षा करने की आवश्यकता है, जिससे हमारी भी रक्षा हो। अज्ञान और आडम्बर के पर्दे को हटाकर हमें प्रभु सत्य के दर्शन करने चाहियें। सत्य का अवलम्बन करने में ही धर्म है और धर्म के ऊपर ही हमारी वैयक्तिक एवं सामूहिक उन्नति तथा रक्षा निर्भर हैं अपनी पंचमांश शक्ति का जिस दिन हम सच्चे धर्म के लिए उपयोग करने लगेंगे उसी दिन से हमारे सौभाग्य सूर्य का उदय होना आरम्भ हो जायेगा।

बड़े ही आश्चर्य की बात है कि एक मानव ऐसा है जो भीख मांगता है। क्या आपने कभी पशु-पक्षियों को भीख मांगते देखा है? नहीं देखा होगा, क्योंकि उनमें आत्मनिर्भरत कूट-कूट कर भरी है। उनमें श्रम करके अपना पेट भरने की क्षमता है। पक्षी कोसों की उड़ान भर अपना भोजन खोज लेते हैं, स्वयं अपना पेट भर चोंच में बच्चों के लिये भी ले आते हैं। मनुष्य भीख मांगने में भी पशु, पक्षियों की सहायता लेता है। जैसे आप रोजाना देखते हैं, गाय का दान, बन्दर नचाने वाला व सांप दिखाने वाला व कबूतर से भाग्य बताने वाला आदि। क्या मानव की यही महानता है?

# 14. धर्म का स्वरूप कैसा हो?

मानवीय जीवन की प्रगति के कार्यों का क्रम क्या हो? कैसे इसे द्रुत बनाया जाये? यह आरम्भ से ही मनीषियों के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु रहा है। मानव की काया, प्राण व मन को सुगठित बनाते हुए अतिमानस तक की विकास योजना सम्पन्न करने के साथ सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्यावहारिक जीवन श्रेष्ठ, समुन्नत व आदर्श कैसे बनाया जाये? इस पर सैद्धान्तिक विवेचन एवं व्यावहारिक मार्गदर्शन प्रदान कर व्यष्टिगत एवं समष्टिगत जीवन के सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए सर्वतोमुखी विकास की जो प्रणाली आविष्कृत हुई, महापुरुषों ने उसका नाम 'धर्म' दिया।

यद्यपि मानवीय ज्ञान की समस्या विधायें व्यक्ति के विकास के लक्ष्य को लेकर ही विकसित हुई हैं, परन्तु इनमें से प्रत्येक का गहनता से अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि ये सभी एकांगी हैं। सर्वांगीणता एवं सार्वभौमिकता की दृष्टि से विकसित जीवन के लिए आवश्यक सूत्रों को हृदयंगम कराना धर्म की अपनी विशेषता है। इन सूत्रों को हृदयंगम कर जीवन लक्ष्य की ओर पहुँचने का विवेकपूर्ण सचेतन प्रयास करना ही यथार्थ अर्थों में धार्मिक होना है। स्वामी पवित्रानन्द अपनी कृति **Modern Man in search of Religion** में इनको और अधिक स्पष्ट करते हुए बताते हैं– धर्म का तात्पर्य है– **वर्तमान एक जीवन में ही अनेक जीवनों को निचोड़ लेना।** यही कारण है कि सच्चे धार्मिक व्यक्ति का जीवन के प्रति दृष्टिकोण उसके आदर्शों के प्रति सहानुभूति रखने वाले लोगों के अतिरिक्त अन्य सभी के लिए अबोधगम्य रहता है।

सर्वांगीण विकास के इन सूत्रों का अन्वेषण तथा कालक्रम परिस्थितियों परिवेश की दृष्टि से संशोधन समय-समय पर विभिन्न महापुरुषों ने किया है। इन संशोधनकर्त्ताओं के निर्धारण के आधार पर सार्वभौमिक विकास की एक ही प्रणाली धर्म ने परिस्थितियों एवं परिवेश के अनुरूप विभिन्न स्वरूप पाए।

इसी तथ्य पर गहन चिन्तन के उपरान्त अपने प्रतिपादन निष्कर्ष में उल्लेख करते हुए बर्नार्डशॅ ने श्रुति के कथन को दुहराया कि **धर्म एक है उसके स्वरूप अवश्य भिन्न हैं ।**

कालक्रम की दृष्टि से वैदिक धर्म को इतिहासविज्ञ सर्वाधिक प्राचीन मानते हैं । धर्म के साथ हिन्दू जोड़ने का तात्पर्य केवल इतना है कि सूत्रों के अन्वेषक हिन्दवासी थे । इसके पश्चात् परिस्थितियों एवं परिवेश के अनुसार संशोधन व अन्वेषण हुए तथा पारसियों में पारसी धर्म का उदया हुआ । प्रो. ए.वी.डब्ल्यू. जैक्सन अपनी कृति "Persia Past and Present" में पारसी धर्म के अधिष्ठाता जरथुस्त्र को एक ऐतिहासिक व्यक्ति की मान्यता प्रदान करते हैं । कुछ इतिहासकार पौरष्य व दुग्धोवा की इन सन्तान का काल ईसा से 6000 ई. पूर्व तथा कुछ ईसा से 12000 ई. पूर्व मानते हैं । इनके पश्चात् मूसा, ईसा, मुहम्मद आदि महापुरुषों के द्वारा यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम धर्मों का उदय हुआ । इसी तरह चीन में ईसा से 604 वर्ष पूर्व लाओत्से के द्वारा ताओ धर्म व लगभग 425 वर्ष पूर्व कन्फ्यूशियस द्वारा कन्फ्यूशियस धर्म प्रकाश में आए । जापान में शिन्ता धर्म तथा भारत में बौद्ध धर्म व जैन धर्म का उदय इसी संशोधन व अन्वेषण की परम्परा में हुआ ।

यद्यपि ये सभी धर्म सार्वभौमिकता के एक ही शाश्वत सिद्धान्त व लक्ष्य का बोध कराने वाले हैं, किन्तु प्रत्येक मत-मतान्तरों तथा व्याख्यानों की बहुलता के अम्बार में शाश्वतता छुप-सी गई है । सर्वसामान्य को यह प्रतीत होने लगा है कि यह विभिन्नता धर्म के स्वरूपों की न होकर स्वयं धर्म की है । प्रत्येक स्वरूप में उल्लिखित सिद्धान्तों का गहन अध्ययन व गवेषणात्मक विवेचन वस्तुस्थिति को प्रकट करता है । सिद्धान्तों की दृष्टि से पारसी, यहूदी, ईसाई धर्म एक हैं । पारसियों का आहुरमज्द ही यहूदियों का यहोवा, ईसाइयों का स्वर्गस्थ पिता तथा मुसलमानों का अल्लाह है । ईश्वर व जीव के पारस्परिक सम्बन्ध स्नेहमय हैं । इसी तरह बुद्ध धर्म, जैन धर्म, कन्फ्यूशियस धर्म, ताओ धर्म, शिन्तो धर्म सभी स्वर्णिम नियमों की बात करते हैं । इन धर्मों

को प्रकारान्तर से नीति का विशद् विवेचन कहा जा सकता है ।

बौद्ध एवं जैन विवेचन की कुछ दार्शनिक मीमांसाओं में भेद होने पर भी दोनों ही आदर्शोन्मुखी जीवन जीने की नीतियों का प्रायः एक जैसा प्रतिपादन करते हैं । यही स्थिति कन्फ्यूशियस धर्म में है । इसमें उल्लिखित स्वर्णिम नियम भी उपरोक्त जैसे ही हैं । इन नियमों के पाँच प्रकारों में 'जैन' का तात्पर्य है, 'अच्छाई' व्यक्ति-व्यक्ति में प्रेम सम्बन्ध । 'चुन-त्स' का भाव है—सच्ची व श्रेष्ठ मनुष्यता । 'लि' का मतलब है—औचित्य उत्तम व्यवहार इसका एक अर्थ जीवन की नियम व्यवस्था से भी है 'ते' का अर्थ है शक्ति, परन्तु कन्फ्यूशियस के मन्तव्य से शक्ति का प्राण शारीरिक भौतिक स्तर पर नहीं नैतिक स्तर पर होता है । पाँचवें नियम 'वेन' का अर्थ है, शान्ति की कलाएँ । इसी तरह 'ताओ' धर्म में ताओ का अर्थ है मार्ग । इसे लाओत्से परम कारण मानते हुए इसकी प्राप्ति हेतु नैतिक व उन्नत जीवन जीने का मार्ग निर्देशित करते हैं । जापान के शिन्तो धर्म का मर्म समझाते हुए टोकियो विश्वविद्यालय के तत्कालीन प्राध्यापक डॉ. मिशिजी इशीकावा अपने विचारपूर्ण निबन्ध **Introduction to Shinthology** में कहते हैं—

**शिन्तो का तात्पर्य है ईश्वरीय मार्ग । इसमें ईश्वर के केनकार्ड अर्थात् सगुण या यूकार्ड अर्थात् निर्गुण दोनों ही पक्ष स्वीकारने के साथ जीवन को उन्नत व विकसित बनाने हेतु नीति-नियमों का सुनियोजित विवेचन है ।**

विश्व के सभी महत्त्वपूर्ण धार्मिक स्वरूपों पर किया गया चिन्तन इनकी एकात्मता पर सोचने के लिए हमें बाध्य करता है । इनका यह अनितीय भाव भारतीय साहित्य के वेद अर्थात् ज्ञान के शीर्षस्थ भाग अर्थात् वेदान्त में स्पष्ट भाषित होता है । यह अपने प्रथम सिद्धान्त नामरूपमिथ्या में सारे द्वन्द्वों का निराकरण करता है । इसका तात्पर्य है कि नाम-रूप का मोह ही सारे झगड़ों की जड़ है, वास्तविकता भी यही है । अर्नाल्ड टानवी **Inhistorian approach to Religion** कहते हैं—

**'धर्म' के नाम पर हुए प्रायः सभी झगड़े सिद्धान्तों के लिए नहीं वरन् स्वरूपों**

**के लिए हुए हैं ।**

स्वरूपों को कुछ अधिक महत्त्व देने के कारण ही जहाँ यह कहा जाता है कि जो ईसा को नहीं मानता, वह ईसाई नहीं, मूसा, मुहम्मद, बुद्ध, महावीर , लाओत्से, कन्फ्यूशियस आदि को न मानने वाले क्रमशः यहूदी, मुसलमान, बौद्ध, जैन, ताओवादी, कन्फ्यूशियस मतावलम्बी नहीं । वहीं राम-कृष्ण को न मानने वाले सगुण या निर्गुण को स्वीकारने अथवा अस्वीकारने वाले सभी सहजता से इस सनातन भाव को ग्रहण कर सकते हैं । स्वामी अभेदानन्द अपने एक वक्तव्य में कहते हैं कि यहाँ आस्तिक और नास्तिक के मध्य में कोई तकरार नहीं, क्योंकि इसमें सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक है जो सभी को सहज स्वीकार्य है ।

नाम रूप का आवरण हटा देने पर विश्व के सभी धर्म यहाँ अपना एकत्व प्राप्त कर लेते हैं । नैतिक नियमों का प्राधान्य मानने वाले बौद्ध, जैन, कन्फ्यूशियस वेदान्त में वर्णित साधन चतुष्ट्य व षट्सम्पत्ति (शम, दम उपरति, तितीक्षा, भुभुक्षत्व, नित्या-नित्य विवेक) में एकत्व प्राप्त करते हैं । जबकि पारसी, यहूदी, ईसाई, इस्लाम इसके द्वैत भाव से एकीकृत होते हैं, किन्तु ईसा के **I and my oneself** तथा सूफियों के 'अनहलहक्' के स्वर निनाद के साथ इनका एकत्व विशष्टद्वैत से होता है । यही स्थिति शिन्तो के सगुण-निर्गुण के साथ है, जबकि ताओ पूर्णतया अद्वैत सिद्धान्त के ब्रह्म के सदृश ही हैं । इसे ताओ-ते-किंग नामक कृति में निराकार, मन-वाणी से परे बताया गया है । यही नहीं सभी धर्म स्वरूपों का मोह छोड़ने के साथ जहाँ परमोच्च भाव में प्रतिष्ठित होते हैं, वहीं वे अद्वैत तत्त्व में समाहित हो जाते हैं ।

फ्रांस के प्रसिद्ध पत्रकार तथा विचारक जीन हर्बर्ट अपनी कृति **Diversity of Unity** में उपरोक्त तथ्य से सहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि सिद्धान्तों एवं शाश्वत् मूल्यों की अपेक्षा अपने मतों एवं मतवादों तथा

तत्सम्बन्धी वर्गीकरण के नाना विभेदों में अपना सारा चिन्तन केन्द्रित करने के कारण ही हमें एकत्व में अनेकत्व भासित होने लगा है। इसी को वास्तविकता समझ बैठने के कारण ही शाश्वत मूल्यों से विमुखता तथा प्रेम के स्थान पर द्वेष ही हमारे पल्ले पड़ रहा है।

आवश्यकता एकत्व बोध की है। इसी को प्रतिपादित करते हुए सुविख्यात विचारक डॉ. भगवानदास अपनी कृति **The Intial unity of Religion** में कहते हैं कि द वन टू गाड, विश्वात्मा, ओवरसोल, एनिमा मुण्डी, द टोटल माइण्ड, द यूनिवर्सल सेल्फ ऑफ ऑल आदि नामों की अचराभिव्यंजना से भ्रमित न होकर धर्म के उस शाश्वत स्वरूप का अनुकरण, अनुसरण करना चाहिए, जो एक है, किन्तु अनेक स्वरूपों में प्रतिभासित हो रहा है। इसी तथ्य को स्वामी विश्वानन्द सत्य स्वीकारते हुए अपनी रचना **Unity of Religion** में कहते हैं कि प्रत्येक धर्म के मुख्यतया तीन पक्ष हैं—दर्शन, आधारभूत सिद्धान्त व नीति। तीनों ही दृष्टिकोणों से परखने पर स्पष्टतया धर्म एक है, उसके स्वरूप में भले ही विविधता गोचर हो।

वेदान्त इन भासित होने वाले स्वरूपों की मणिमुक्तकों को अपनी माला में यथोचित स्थान देता हुआ गीता के कथन की **भवि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणि गणां इवा** को प्रमाणित करता हुआ स्पष्ट करता है कि धर्म के विभिन्न स्वरूप मणियों के सदृश्य हैं, जबकि धर्म की शाश्वतता सूत्र की तरह एक है। यही सूत्र इन सभी का आधार है। इसके नष्ट होने से सभी का अस्तित्व नष्ट होने की सम्भावना है। आवश्यकता इन सूत्र को समझने व तदनुरूप आचरण की महत्ता प्रतिपादित करने की है।

वेदान्त के द्वारा इस परमोच्च भाव की व्याख्या के कारण ही प्रो. मैक्समूलर **Sikh System of Indian Philosophy** नामक ग्रंथ में उस वास्तविकता के नाम से बताते हैं जो मानव मन द्वारा प्राप्य है। जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर इसे जीवन व मृत्यु का सहचर व शान्ति प्रदाता मानते हैं। प्रो. ई. डब्लू हापकिन्स इसे थेल्स, पैरमिनिडीज को विचारणा का आधार

बताते हुये मानव मात्र के लिए कल्याणकारी मानते हैं । कील विश्वविद्यालय के तत्कालीन प्राध्यापक दर्शनशास्त्री पालडायन ने इसकी कल्याणकारिता ताकि सार्वभैमिकता के ही कारण इस पर ग्रंथों की रचना (वेदान्त दर्शन का भाष्य आदि) भी की ।

विभिन्न स्वरूपों के व्यामोह (अज्ञानता) में न उलझ कर शाश्वत् मूल्यों के परिपालन को आधार मानकर ही जीवन लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है । स्वामी विवेकानन्द एक स्थान पर कहते हैं–

**स्वरूपों के व्यामोह ने ही समय-समय पर मनुष्यों को पशु के स्तर पर उतारा है, जबकि एकत्व के बोध ने महापुरुष उपजाकर मानवता को सुशोभित किया है ।**

इस भाव को हृदयंगम कर तदनुरूप व्यवहार करने से मानव जाति सही अर्थों में धर्मपरायाण हो सकती है । मानवता अपना खोया सौन्दर्य पुनः पाकर उज्ज्वल भविष्य की आधारशिला रख सकती है । यह मात्र कल्पना नहीं, एक सुनिश्चित सम्भावना भी है ।

# 15. धर्म अफ़ीम की गोली नहीं है

3 दिसम्बर, 1905 को सोवियत रूस से प्रकाशित एक साम्यवादी पत्र में तत्कालीन सोवियत संघ के क्रान्तिकारी नेता एवं साम्यवादी सिद्धान्त के प्रतिपादक लेनिन ने समाजवादी सिद्धान्तों के क्रियान्वयन में सर्वोपरि बाधा धर्म को बताया और धर्म की निन्दा उदसे 'अफ़ीम की गोली' कहकर की। आज साम्यवादी सिद्धान्तों में मार्क्स एवं लेनिन के इन्हीं कथनों को सर्वोपरि महत्त्व देकर स्वीकार किया जाता है और इन्हीं शब्दों की प्रेरणा से कम्युनिस्ट देश कम्युनिज्म सिद्धान्त पर आस्था रखने वाले धर्म तत्त्व की अवहेलना, उपेक्षा ही नहीं, उसकी निन्दा भी करते रहते हैं।

उक्त विचारधारा के प्रतिपादनों को बाद में लेनिन के 'धर्म सम्बन्धी विचार' नामक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया गया और अब तक उन्हीं विचारों को आधारभूत तथ्य मानकर धार्मिक आस्थाओं और परम्पराओं का खण्डन किया जाता रहता है।

कदाचित् कोई उन मूलभूत विचारों पर दृष्टि डाले तो उसे यह समझते देर न लगेगी कि लेनिन की इस मान्यता के पीछे ऐतिहासिक कारण रहे हैं, वे उस समय की परिस्थिति में सही भी रहे माने जा सकते हैं, परन्तु धर्म के यथार्थ स्वरूप की तुलना में न तो उन विचारों में कुछ सत्य हैं, न ही वज़न। उन दिनों अन्य यूरोपीय देशों की तरह रूस में भी चर्च और उनके पादरी सर्वप्रभुता सम्पन्न हुआ करते थे। असीमित अधिकार, सम्पत्ति प्राप्त व्यक्ति में अहंकार की अन्य जो भी बुराइयाँ हो सकती थीं वह उन पादरियों में भी थीं। यही कारण था कि उनके प्रति जन श्रद्धा पूरी तरह समाप्त हो चुकी थीं। अपना आधिपत्य बनाये रखने के लिए पादरियों ने सिद्धान्तों की कट्टरता का बोझ लादा। उस स्थिति में किसी भी विचारशील में वही प्रतिक्रिया हो सकती थी, जो लेनिन में हुई। वास्तव में लेनिन की आवाज़ आम जनता की प्रतिक्रिया थी, इसी कारण वहाँ धर्म के प्रति अनास्थाओं ने एकाएक जोर पकड़ा, विप्लव हुआ और रूस एक झटके में साम्यवादी देश हो गया।

उन समूचे विचारों को बार-बार पढ़ने पर एक भी ऐसा तर्क नहीं मिलता, जिससे सैद्धान्तिक रूप में धर्म के सनातन सिद्धान्त कटते हों। आर्थिक, सामाजिक जीवन को जिस भाग्यवाद से दबाने की बात कही गई है, वह पादरियों की तात्कालिक मस्तिष्कीय उपज हो सकती है। वस्तुतः हिन्दू धर्म ही नहीं किन्हीं अन्य धर्मों में भी वैसा नहीं है। हमारे यहाँ पग-पग पर पुरुषार्थ, परहित, सामाजिक भलाई की बात कही गई है, सम्पत्ति वालों को सम्पत्ति का एक बड़ा भाग लेने की परम्परा आज आयकर के रूप में सारे विश्व में विद्यमान है, परन्तु यह वस्तुतः भारतीय शासन व समाज की देन है, उसका भी सम्बन्ध धर्म से ही रहा है जो आर्थिक और भौतिक जीवन के व्यवहार में इतनी कठोर साम्यवादी विचारधारा का पोषक रहा हो उस धर्म को ही प्रगति में बाधक मान लेना न केवल भूल अपितु मूर्खता भी है, जब कि धर्म एक विज्ञान सम्मत प्रक्रिया का नाम है।

यों पाखण्ड आज भी धर्म में कम नहीं, अंध-विश्वास और निहित स्वार्थों का अहंकार अब भी जुड़ा हुआ है धर्म के उस स्वरूप की जो व्यक्ति को पलायनवादी, भोग्यवादी, विषमतावादी बनाता है न केवल निन्दा अपितु उसे बहिष्कृत भी किया जाना चाहिये, परन्तु उसका दार्शनिक पक्ष जो प्रत्येक युग, प्रत्येक काल, प्रत्येक परिस्थिति में व्यक्ति के लिए अपरिवर्तनीय है, का तिरस्कार मानव जीवन के लिए कितना अहितकर हो सकता है, उसे आज के सामाजिक जीवन और वैयक्तिक आचरण की मर्यादाहीनता के रूप में कहीं भी स्पष्ट देखा जा सकता है। धर्म को पलायनवादी बनाना भगोड़ों का काम है। निन्दा केवल उतने ही अंश की हो सकती है।

भगोड़ों में से बहुत तथाकथित अध्यात्म के कोतर में छिपने की कोशिश करते हैं। एकान्त में भजन करने और शान्ति पाने की बात सोचना सर्वसाधारण के लिए उपयोगी नहीं है। यह वैज्ञानिक अन्वेषण एवं अभ्यास का प्रकरण है। अन्तर्मुखी होकर सूक्ष्म अति सूक्ष्म सत्ता के गहरे समुद्र में डुबकी लगाने और वहाँ से बहुमूल्य रत्न राशि ढूंढ लाने के लिए कुशल पनडुब्बे का सा-दुस्साहस करना एक महत्त्वपूर्ण काम है, परन्तु वह बन तब

पड़ता है, जब पहले मन को भली प्रकार निग्रहीत कर लिया जाये और एकान्त में भी रंगमंच जैसा आनन्द आने लगे ।

यह समय-साध्य और अभ्यास-साध्य है। यह आरम्भ नहीं परिपक्वास्था है । जो लोग आरम्भ में ही एकान्त ढूंढते हैं और पहले दिन ही समाधि लगने की बात सोचते हैं, वे भारी भूल करते हैं । व्यायामशाला में प्रवेश करते ही दंगल जीतने वाला पहलवान कौन बनता है और पट्टी पूजन के दूसरे दिन ही किसके हाथ स्नातक होने का प्रमाण-पत्र मिल जाता है । इसी बालबुद्धि से एकाकी आत्मसाधना के लिए कुछ लोग भागते हैं । इसके लिए उनकी पूर्व तैयारी तो होती नहीं, जो उत्साह होता है वह भी श्रद्धाजन्य नहीं, जीवन संग्राम की भयंकरता से डरकर कहीं छिपने की पलायनवादी मनोवृत्ति से उत्पन्न हुआ होता है । उसमें न श्रद्धा होती है न गहराई । फलतः मन वहाँ भी नहीं लगता । वापस लौटने में उपहास होने की झिझक से एक नया असमंजस और खड़ा हो जाता है ।

कुछ लोग भजन करने के लिए घर छोड़कर तो नहीं भागते परन्तु एक विचित्र प्रकार की उदासी धारण कर लेते हैं । यह वैराग्य है तो नहीं । पर कहा या समझा इसी तरह जाता है । अपने कर्त्तव्यों एवं आश्रितों से उदासीन हो जाना । उदासी से उत्पन्न शिथिलता भी भारी पड़ती है । जीवन में इस प्रकार जो रिक्तता उत्पन्न होती है, उसे भरने के लिए कई व्यक्ति पूजा-पाठ, सत्संग, साधु-संगम जैसा कोई आश्रय ढूँढते हैं । यदि उस विषय में गम्भीरतापूर्वक कदम उठाये गये होते तो कर्मयोग की सनातन प्रक्रिया पहले से ही मौजूद थी । उसे अपनाकर अर्जुन, हनुमान आदि की तरह उभयपक्षीय कर्त्तव्य-धर्म भली प्रकार सध सकते थे । लोक और परलोक का समन्वय पूर्ण व्यावहारिक है, साथ ही सरल और सरस भी ।

वैयक्तिक जीवन में आत्म-परिष्कार, पारिवारिक जीवन में सहयोगियों का पोषण-संवर्धन, सामाजिक जीवन में सत्प्रवृत्तियों का समर्थन जैसे उत्तरदायित्व हर किसी के सामने मौजूद हैं । उनका निर्वाह भली प्रकार किया जाना चाहिए । इन तीनों ही मोर्चों पर कर्म-कौशल का, शौर्य-साहस का,

विवेक-संतुलन का परिचय दिया जाना चाहिए। इनसे मन हटा लेना और कल्पनालोक में विचरण करके मन को समझाना ऐसा प्रयत्न है, जिससे किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। भाग खड़े होने से समस्याएँ और भी अधिक विकराल होती हैं और पहले जितना उपद्रव चल रहा था, उसमें और भी अधिक वृद्धि हो जाती है। मन जिस समाधान को खोजने चला था वह भी भटकाव भरी पगडण्डियों में कहाँ मिलता है। उपेक्षा, उदासीनता की रीति-नीति, चैन मिलने में सहायक होने की कल्पना जिन्होंने भी की है उन्हें प्रयोग के उपरान्त निराशा ही हाथ लगी है।

प्रायः कायरता से उत्पन्न पलायनवाद की चपेट में बहुत से लोग धर्म आवरण ओढ़ते और व्यावहारिक जीवन से जुड़ी हुई समस्याओं से मुँह मोड़ते हैं। ऐसे ही धर्मात्मा सर्वत्र उपाहसास्पद बनते हैं। हर क्षेत्र में श्रम करने पर उपलब्धियाँ मिलती हैं। धर्म क्षेत्र में प्रवेश करने पर व्यक्तित्व में तद्विषयक प्रखरता उत्पन्न न हो तो सहज ही उसकी निरर्थकता का अनुमान लगाया जायेगा। दर्शकों और पर्यवेक्षकों में सहज ही उसकी बुरी प्रतिक्रिया होगी। धर्मात्माओं की अपरिपक्वता का दोष धर्म पर, धार्मिकता पर मढ़ा जायेगा। देखा यही जाता है कि धर्म-चर्चा करने वाले लोग अपने स्वजन-सम्बन्धियों से उदास होते जाते हैं। जिम्मेदारियों से हाथ खींचकर उन्हें और भी अधिक विकृत करते हैं, साथ ही स्वयं भी निराश, निष्क्रिय बनकर अपने आप के लिए भार-भूत बनते हैं। जहाँ रहते हैं, वहा भी नीरसता का वातावरण उत्पन्न करते हैं।

जिस समुदाय के बीच रहा जाये, जिन लोगों के साथ घनिष्टतापूर्वक निर्वाह किया जाये उन्हें पारस्परिक स्नेह, सहयोग, विनोद, उत्साह का लाभ मिलना चाहिए। इसके बिना यह निर्वाह के साथ जुड़े हुए कर्त्तव्य की अवहेलना ही होती है। जो माँ स्वयं उदास रहती है और अपने बच्चों पर, पति पर , परिवार पर उदासी थोपे रहती है, वह प्रकारान्तर से उन पर अत्याचार ही करती है। भले ही वह निर्दोष जैसी दीन-दुःखी जैसी क्यों न दीखती हो। यहाँ महिला का तो उदाहरण भर दिया गया है। बात उपेक्षा बरतने वाले हर नर-नारी, बाल-वृद्ध पर लागू हो सकती है। सहजीवन में, साथियों के प्रति

अपने कर्त्तव्यों में शिथिलता कर देना हर दृष्टि से अनुचित है। भले ही इसके लिए धार्मिकता की आड़ क्यों न ली गई हो? धर्म-धारणा का निर्वाह करने के लिए नीरस और उत्तरदायित्वविहीन जीवनक्रम अपनाना आवश्यक नहीं है। उसे सरसता और सक्रियता के साथ अपेक्षाकृत और भी अच्छी तरह निभाया जा सकता है। ऐसी पलायनवादी धार्मिकता पर करारे व्यंग्य करे हुए दार्शनिक नार्मन वीसेन्ट पोल ने लिखा है—

**कमजोर मनःस्थिति के लोग जीवन संग्राम की स्वाभाविक कठिनाइयों को तिल का ताड़ बनाते हैं और भयभीत होकर मुँह छिपाने का कोई आसरा तकते हैं। कोई धर्म का पल्ला पकड़ते हैं तो कोई शराब का आश्रय लेते हैं, परन्तु इससे उन्हें मिलता कुछ नहीं।**

ऐसे सभी आसरे परिस्थिति में सुधार नहीं बिगाड़ ही उत्पन्न करते हैं। 'धर्म' को अफ़ीम की गोली कहकर अनास्थावादी लोगों ने उसे खूब बदनाम किया है और कहा है इस जंजाल में फंसने वाले लोग काहिली और गैरजिम्मेदारी से लद जाते हैं, यह बदनामी किसी भी भले बुरे इरादे से क्यों न की जाती हो, उसमे इतना तथ्य तो है ही धार्मिकता और उदासीनता प्रायः पर्यायवाचक बनती दिखाई पड़ती है तो उस परिणाम को देखते हुए इस प्रकार के निष्कर्ष निकालने वालों को अधिक दोष नहीं दिया जा सकता।

वीसेन्ट पोल ने इस सन्दर्भ में अपना निजी अभिमत व्यक्त करते हुए कहा है—धार्मिकता, औषधियाँ, मनोरंजन आदि सभी साधन यदि ठीक तरह प्रयुक्त किये जाएं तो इनके सहारे प्रगति होती है और प्रसन्नता मिलती है। किन्तु इन पर इतना आश्रित न बना जाये कि कठोर कर्त्तव्यों की उपेक्षा ही होने लगे। औषधियों पर आश्रित रहने से नहीं स्वास्थ्य रक्षा के ठोस प्रयत्न से काम चल सकता है। मनोरंजन के अवसर ढूंढने से नहीं आन्तरिक उल्लास से प्रसन्नता स्थिर रहती है—इसी प्रकार धर्म के कल्पना लोक में विचरण करने से नहीं, जीवन संग्राम में कर्म में गांडीव उठाने से समाधान मिलता है। कर्मनिष्ठा का स्थान यदि पलायनवादी धार्मिकता ग्रहण करने लगे तो उसमें अनर्थ की सम्भावना रहती है, वैसे दोनों ही अपने-अपने स्थान पर आवश्यक

और महत्त्वपूर्ण हैं ।

धर्म का वास्तविक तात्पर्य है—मानवीय चेतना में ऐसी सत्वृत्तियों का समावेश जो सदाचरण और कर्त्तव्यपालन के रूप में वातावरण को उल्लासपूर्ण बनाने में समर्थ हो सकें । सहिष्णुता, दया, प्रेम, विवेक, उदारता, संयम, सेवा जैसे गुणों में सच्ची धर्मनिष्ठा का परिचय मिलता है । कर्त्तव्यपरायणता को प्रमुखता देने वाला व्यक्ति धर्मात्मा कहा जा सकता है, परन्तु आज तो इन सबकी उपेक्षा करके मात्र पूजा-पठन में निरत रहना ही धर्मपरायणता का चिह्न बन गया है । धर्म के प्रति अनास्था इसी विकृति के कारण उत्पन्न हुई है । धर्म के कारण लोग पिछड़ेपन के शिकार नहीं हुए हैं, वरन् पिछड़े लोग धर्म को आडम्बर ओढ़कर उसकी उपयोगिता में सन्देह उत्पन्न कर दिया है ।

नींद की गोली खाने से, नशा पीने से भाग्यवाद का आश्रय लेने, भाग खड़े होने, उदासीनता धारण कर लेने से उलझनें सुलझती नहीं और न पलायनवादी धार्मिकता से किसी को समाधान मिलता है । तथ्यों को समझा जाना चाहिए और समस्याओं का समाधान ढूंढना चाहिए । वह एक तरह से न सही तो दूसरी तरह से हल हो सकती हैं । जिस तरह हम हल चाहते हैं, वही एकमात्र उपाय हो ऐसी बात नहीं है, खोजने पर ऐसे अनेकों आधार निकल सकते हैं, जिससे प्रस्तुत कठिनाइयों से निपटना या बचना सम्भव हो सके । पानी की धार कोई बड़ी चट्टान सामने आने पर किसी दूसरी दिशा में मुड़ जाती है । सीधी टक्कर कठिन पड़ती है, तो बगल में रास्ता ढूंढा जाता है ।

निराशा, कायरता और भीरुता से ग्रसित मनःस्थिति में अपनाया गया धर्माश्रय किसी के कुछ काम नहीं आ सकता । धर्म तो कठोर कर्म का पर्यायवाचक हैं । धर्मनिष्ठा और कर्मनिष्ठा समान अर्थबोधक हैं । दूरदर्शी दृष्टिकोण अपनाकर अपनी और अपने सम्पर्क क्षेत्र की समस्याओं का समाधान करने की क्षमता का विकास ही सच्ची धार्मिकता है । इसी विशेषता के कारण धर्म तत्त्व को मानव-जीवन में सम्मान और उच्च स्थान मिला है । इस मौलिकता से विरत होकर वह अनुपयोगी बनता और बदनाम होता चला जायेगा ।

धर्म और ईश्वर के प्रति आस्था होने का तात्पर्य है—जीवन की गरिमा और उसकी श्रेष्ठता पर सुदृढ़ श्रद्धा। इसकी प्रेरणा से मनुष्य व्यक्तिगत जीवन में ईमानदार, जिम्मेदार और उदार बनता है। ईश्वर विश्वास से वह जानता है कि उसे पैर इसलिए दिये गये हैं कि उनके सहारे न केवल खड़ा हो वरन् आगे चलने का भी प्रयास करे। यदि ईश्वर को लकड़ी का घोड़ा बनाया जायेगा और उस पर चढ़कर सफर करने का इरादा किया जायेगा तो यह आस्तिकता और धार्मिकता के मूल सिद्धान्तों का अतिक्रमण ही होगा।

यदि तथाकथित अध्यात्मवादियों ने धर्म की यह दुर्गति न की होती तो अनास्थावादियों को यह कहने का साहस नहीं होता कि 'धर्म अफ़ीम की गोली है' जिसमें प्रत्यक्ष चेतना को अप्रत्यक्ष जगत की खुमारी सवार रहती है। धर्म के वे सभी सिद्धान्त जो व्यक्ति को प्रत्यक्ष से परे अप्रत्यक्ष और अदृश्य का बोध कराते हैं दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह सत्य और स्पष्ट हैं, वस्तुतः धर्म ही यथार्थ विज्ञान है, धर्म की नाव पर बैठकर ही आत्मकल्याण, आत्मशान्ति और आत्मिक प्रगति का समुद्र पार किया जा सकता है, उससे कम में नहीं।

धर्म के अन्तर्गत वे सारे सिद्धान्त एवं उपयोगी आधार विद्यमान हैं जो व्यक्ति के सर्वांगीण विकास-भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। आवश्यकता इतनी भर है कि उसके सनातन एवं सार्वभौम सिद्धान्तों को सही ढंग से प्रस्तुत किया जाये। यह सम्भव हो सके तो मानवीय प्रगति का अवरुद्ध पथ-प्रशस्त हो सकता है और वह विज्ञान सम्मत, कहीं अधिक सशक्त एवं उपयोगी प्रमाणित किया जा सकता है।

# 16. धर्मदर्शन के चार मूलभूत सिद्धान्त

मानवजीवन को दो पक्षों में बाँटा जा सकता है—अंतरंग और बहिरंग। अंतरंग को विकसित करने वाली प्रक्रिया का नाम है—संस्कृति। बहिरंग जीवन को सजाने-संवारने की जिम्मेदारी सभ्यता की है। अन्तरंग की नीति को समझा जा सकता है। अध्यात्म का प्रयोजन तत्त्व-दर्शन से, नीति का परिपालन चारित्रिक अनुशासन से सम्भव होता है। संक्षेप में समस्त धर्म को चार चरणों में बाँटा जा सकता है। यथा—

**(1) अध्यात्म** – अध्यात्म-मान्यताओं, आस्थाओं, आकांक्षाओं, संवेदनाओं, उमंगों और आदतों से बने अन्तःकरण को कहते हैं। व्यक्तित्व के उद्गम अन्तराल यही हैं। इन्हीं की प्रेरणा से मनः तन्त्र सोचने की दिशा निर्धारित करता है। इन्हीं पूर्वाग्रहों के आधार पर कल्पनाओं, तर्कों-प्रमाणों का संचय किया जाता है। बुद्धि का निर्णय इसी निर्धारित दिशा में पक्ष-समर्थन होता है। अन्तराल का निर्देश मस्तिष्क मानता है। प्रिय की पूर्ति के लिए उपाय सोचता है। कठिनाइयों का हल निकालता है और शरीर को उसी मार्ग के अनुसरण करने का निर्देश करता है, जिससे अन्तराल की इच्छापूर्ति सम्भव हो सके।

संक्षेप में किसी व्यक्ति का यह ढाँचा ही उसके भूत का इतिहास, वर्तमान का प्रयास और भविष्य का निर्धारण बनकर सामने आता है। मनुष्य के स्तर का मूल्यांकन इसी ढाँचे को देखकर किया जाता है। मित्र शत्रु के रूप में अन्यान्य व्यक्ति इसी की प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। जीवन की दिशा-धारा निर्धारित करने का यही केन्द्र-बिन्दु है। इसी के अनुरूप मनुष्य उत्थान-पतन की ओर बढ़ते हैं। सुख-दुःख पाते और सफल-असफल बनते हैं। अन्तराल में से पशु-प्रवृत्तियों के निष्कासन और देव-धारणाओं को प्रतिष्ठित करने के लिए तत्त्व-दर्शन का सृजन हुआ है।

तत्त्व-दर्शन ही उत्कृष्टतावादी अध्यात्म की पृष्ठभूमि है। ब्रह्मविद्या का विशालकाय ढाँचा इसी स्तर को समुन्नत बनाये रखने के लिए सृजा गया है।

ईश्वर, आत्मा, देवता, परलोक, पुनर्जन्म, कर्मफल, सद्गति, स्वर्ग, नरक, बन्धनमुक्ति, भक्ति, साधना, सिद्धि आदि से सम्बन्धित अनेकों प्रतिपादनों के पीछे एक ही प्रयोजन सन्निहित है कि मानवीय आस्थाएँ निष्कृष्टता से विरत होकर उत्कृष्टता को स्वीकारें और उस निर्धारण के अनुरूप अपनी विचारणा एवं कार्यपद्धति को प्रेरणा प्रदान करें ।

अध्यात्म निर्धारण का मूल आधार श्रद्धा है । श्रद्धा को कल्पना मात्र न मान लिया जाये, उसे संदिग्ध न कहा जाने लगे । इसलिए शास्त्रों की, आप्तवचनों की, दिव्य प्रेरणाओं की, ईश्वरीय निर्देशों को, कथा-पुराणों की अनेकानेक साक्षियाँ देकर पक्ष में तर्क, तथ्य, प्रमाण आदि का संचय करना और उन्हें सुनियोजित ढंग से प्रस्तुत करना तत्त्व-दर्शन का कार्य रहा है ।

**(2) नीति-सदाचरण –** नीति-मर्यादाओं के निर्धारणों को सदाचरण कहते हैं । धर्मशास्त्रों का प्रधान विषय इसी उद्देश्य से नियम बनाना है । स्मृतियों में व्यक्ति के आन्तरिक और सामाजिक कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का ही विस्तृत विवेचन किया गया है, इसे कर्त्तव्यनिष्ठा-धर्मनिष्ठा भी कह सकते हैं । कर्त्तव्य को प्रधान एवं अधिकार को गौण मानने की जो प्रेरणा दी गई है और कहा गया है कि प्रलोभनों, आकर्षणों, भय, दबाव की चिन्ता न करते हुए नीति-निष्ठा पर सुदृढ़ रहा जाये ।

सहृदयता, सज्जनता, शालीनता, संयम, सादगी की महत्ता एवं उपयोगिता का प्रतिपादन करके मनुष्य को शालीन, संयमी एवं सदाचरण के प्रति निष्ठावान बनाने का उपक्रम नीतिशास्त्र का विषय है । आदर्शों के लिए त्याग-बलिदान करने वाले महामानवों की जयन्तियाँ मनाने, कथा-गाथा करने का प्रचलन इसी दृष्टि से है कि उससे जन-साधारण को आत्म-संयम बरतने और सत्प्रवृत्तियों के परिपोषण के भाव-भरे अनुदान प्रस्तुत करने को प्रेरणा मिले । नीति-निर्वाह में तत्काल कुछ कठिनाई पड़ती है । भौतिक महत्त्वकांक्षाओं, ललक-लिप्साओं को नियन्त्रित करना पड़ता है । इस नियमन को लयसाधना कहते हैं । तपस्वी समर्थ को संकीर्ण स्वार्थपरता की पूर्ति से

बचाकर परमार्थ प्रयोजनों में लगाता और आत्मसन्तोष जन-सम्मान, स्नेह-सहयोग एवं दैवी अनुग्रह के असाधारण लाभ प्राप्त करता है । इस स्तर के उदाहरणों का प्रस्तुतीकरण नीतिपूर्ण माना जाता है । गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्टता का समावेश इसी नीति-मर्यादा का परिपालन करने से सम्भव होता है । व्यक्तित्व की गरिमा इसी आधार पर बढ़ती है ।

नीति-मर्यादाओं को कई प्रकार, कई स्तर पर निरुपित किया जाता रहा है । मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं । राजयोग साधना में लगभग इन्हीं का यम-नियमों के नाम से उल्लेख है । अन्य धर्मशास्त्रों से भी थोड़े-थोड़े अन्तर से इसी सीमा-परिधि का निर्धारण किया है । धर्म-सम्प्रदाओं के मौलिक प्रतिपादन इसी नीति-निर्धारण की असमानता के कारण अनेकता बनाये हुए हैं । इनके नीति-न्यायों के परिपालन के उपाय-उपचारों में अन्तर भी बहुत पाया जाता है । प्रथा-परम्पराओं का निर्धारण सभी सम्प्रदायों में अपने-अपने ढंग से सामयिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किया है । यह परम्पराएँ समय के साथ बदलती रहती हैं । जीर्ण होने पर विकृतियाँ बढ़नी स्वाभाविक हैं, ऐसी दशा में उनमें सुधार, परिवर्तन भी होता रहता है फिर भी नीति-निष्ठा की मूल मर्यादाओं में उत्कृष्टतावादी निर्धारण अपने स्थान पर यथावत् बना रहता है । इसी से धर्म को शाश्वत् कहा गया है ।

**(3) सद्व्यवहार-शिष्टाचार –** दूसरों के साथ व्यवहार करने में शालीनता की कुछ मर्यादाओं का परिपालन होना ही चाहिए, इनमें प्रथम है, दूसरों के सम्मान की रक्षा । मानवीय परिवार का एक सदस्य होने के नाते उसके सम्मान आकांक्षा का उचित समर्थन । दूसरा है—अपनी सज्जनता का नम्रता के रूप में प्रस्तुतीकरण । वार्तालाप से लेकर छोटे-बड़े समस्त व्यवहारों में इस मौलिक तथ्य का आदि से अन्त तक निर्वाह किया जाये । असहयोग-विरोध से लेकर संघर्ष तक की स्थिति आने पर भी उस मर्यादा का हर हालत में पालन किया जाये । अशिष्टता किसी भी दशा में न बरती जाये । क्रोध में आपे से बाहर होकर गाली-गलौच जैसी उदण्डता पर उतारू हो जाना अपनी शालीनता का

गंवा देना—अपने ही छोटे स्तर का प्रदर्शन करना है। दुष्टों से जूझते समय भी अशिष्टता न अपनायी जाये, भले ही प्रहारों की प्रक्रिया कितनी ही कठोर क्यों न हो।

दूसरों से वह व्यवहार किया जाये जो अपने साथ अपेक्षित है। इसमें शिष्टाचार बरतने से लेकर उन सभी तथ्यों का समावेश है, जो दूसरों को कुछ सुविधा ही देते हैं। किसी संकट या असमंजस में नहीं डालते। समय का परिपालन, वचन का परिपालन ऐसी ही मर्यादाएँ हैं, उनके सम्बन्ध में प्रयत्नशील रहना चाहिये। ऐसा कोई वायदा न किया जाए, जिसका निर्वाह सम्भव न हो। विश्वास दिलाना ही है तो फिर विश्वासघात की स्थिति न आने दी जाये। बेईमानी या छल से दूसरों की हानि करके अपना लाभ कमा लेना एक प्रकार से मानवी गरिमा के लिए लाभ कमा लेना एक प्रकार से मानवी गरिमा को तिलांजलि देना ही है, इस प्रकार के उपार्जन से बचा जाये। आर्थिक क्षेत्र में इन दिनों इसी प्रकार का अनाचार चल रहा है। श्रमिकों की कामचोरी, व्यापारियों की नफाखोरी और उद्देश्यों की सीनाजोरी अनुपयुक्त उपार्जन के लिए कुछ भी कर गुजरने के लिए आतुर पाई जाती है। इस प्रचलन को न तो स्वयं अपनाया जाये, न सहन किया जाये और न दूसरों को वैसा करने में समर्थन या सहयोग दिया जाये।

दूसरों की नागरिक स्वतन्त्रता का आदर किया जाये। किसी पर अपने विचार थोपने का दबाव तब तक न डाला जाये, जब तक वे अनैतिक या असामाजिक न बन रहे हों। बलपूर्वक विचार थोपना अनुचित माना जाये। विचार-स्वातन्त्र्य का, मानवीय मौलिक अधिकारों का लाभ लेने से किसी को भी वंचित न किया जाये।

पारस्परिक मिलन-व्यवहार में बरते जाने वाले शिष्टाचार का निर्धारण देश, काल, पात्र के अनुरूप होता रहा है। इनका उद्देश्य दूसरों का सम्मान-सहयोग प्रदान करना एवं अपनी शालीनता व्यक्त करना है। स्थानीय प्रचलनों को ध्यान में रखते हुए इनमें से जो उपयुक्त लगते हों उनका

उत्साहपूर्वक पालन करने का अभ्यास किया जाये ।

नागरिकशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के अनुसार मनुष्य को सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह के लिए उचित आधार एवं परामर्श दिये गये हैं, उन्हें समझा और अपनाया जाये । इन मर्यादाओं के पालन में उत्साह दिखाने वालों को पुरस्कार की और अवरोध उत्पन्न करने वालों के प्रति दण्ड की व्यवस्था बनी हुई है । सरकारें, कानून, सेना, कचहरी, जेल आदि की व्यवस्था इसी सामाजिक अनुशासन को बनयो रहना और व्यतिक्रम करने वालों का दमन करने के लिए करती है । समाज में भर्त्सना और प्रशंसा का विरोध और समर्थन का क्रम चलता है । निजी सम्पर्क में यही प्रक्रिया विचार-विमर्श से लेकर असहयोग-प्रतिरोध के रूप में चलती हैं । स्वजनों के प्रति भी एक आँख की, दूसरी सुधार की रखी जाती है ।

प्रचलनों में से दुष्प्रवृत्तियों के निराकरण और सत्प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में तत्परता बरती जाये । अवांछनीयताओं, मूढ़-मान्यताओं एवं कुरीतियों का न तो समर्थन किया जाये और न उनमें सहयोग दिया जाये, वरन् यथासम्भव असहयोग-विरोध से लेकर संघर्ष की नीति अपनाई जाये । इसी प्रकार कल्याणकारी सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन के जो प्रयास चल रहे हों, उनका समर्थन एवं सहयोग किया जाये । राजनीति के क्षेत्र में मतदान के अधिकार का प्रयोग दूरदर्शिता, निष्पक्षता एवं उत्कृष्टता की कसौटी पर कसने के उपरान्त किसी प्रामाणिक व्यक्ति के पक्ष में ही किया जाये । व्यक्तिवादी संकीर्ण-स्वार्थपरता को निरुत्साहित किया जाये और सामूहिकता, सहकारिता को सामर्थ्य भर प्रोत्साहित किया जाये ।

मानवी एकता एवं क्षमता को लक्ष्य मानकर चला जाये, विभेद की दीवारें गिराई जायें । जाति और लिंग के आधार पर किसी को ऊँच-नीच न ठहराया जाये । भावी मानव समाज का स्वरूप विश्व परिवार के रूप में विनिर्मित करने की तैयारी की जाये । विश्व राष्ट्र, विश्व भाषा, विश्व धर्म, विश्व संस्कृति को एकता के सूत्र में बाँधा जाये और उन सब में आग्रहों को

छोड़कर औचित्य को अपनाने पर बल दिया जाये ।

व्यक्ति पविार की मध्यवर्ती धुरी है । उस छोटे से परिवार को एक समय राष्ट्र या समाज की संज्ञा दी जा सकती है । परिवार तंत्र को, श्रेष्ठ नागरिकों को ढालने की फैक्ट्री एवं नर-नारी की खदान कह सकते हैं । इसे सुव्यवस्थित एवं समुन्नत बनाने का प्रयत्न वैयक्तिक गरिमा और समाज को समुन्नत बनाने के दोनों प्रयोजन पूरे करता है । साथ ही उसमें रहने वालों को प्रसन्नता, सुविधा एवं प्रगति के अति महत्त्वपूर्ण आधार परिवार संस्था की छाया में अनायास ही मिलते हैं । परिवारों को भेड़ों का बाड़ा या सराय के स्तर पर उपेक्षित न पड़ा रहने दिया जाये । उसमें पंचशीलों की सत्प्रवृत्तियों का समावेश किया जाये । सर्वविदित है कि पारिवारिक पंचशीलों के पाँचों उद्देश्य स्वच्छता, श्रमशीलता, सहकारिता, प्रगतिशीलता एवं मितव्ययता पाँचों आदर्श ऐसे हैं जिन्हें जिस अनुपात में जहाँ अपनाया जा रहा होगा, वहाँ उतना ही समृद्ध एवं सुसंस्कृत वातावरण बन रहा होगा और उस आश्रम में रहने वाले प्रत्येक सदस्य का भविष्य उज्ज्वल बन रहा होगा ।

परिवार संस्था का पुनर्गठन करने की दृष्टि से युग निर्माण मिशन का अभिनव प्रयास महिला जागरण अभियान के रूप मे चल रहा है । उसके कार्यक्रमों में वे समस्त तत्त्व विद्यमान हैं जो व्यक्ति और समाज के बीच उपयोगी आदान-प्रदान प्रस्तुत कर सकें और उस धुरी को सक्षम बनाकर प्रगतिक्रम को उज्ज्वल भविष्य की दिशा में अग्रसर कर सकें ।

**(4) सदुपयोग –** सदुपयोग पदार्थपरक है । जो वस्तुएँ उपलब्ध हैं या जिनका उपयोग-उपभोग करना पड़ता है, उन सभी को सुव्यवस्थित रखा जाये, बर्बाद न किया जाये । उपयोग करते समय यह ध्यान रखा जाये कि उसका लाभ अन्यान्यों को भी मिलता हो उनको भी इनकी आवश्यकता पड़ेगी । पदार्थ अपने सही रूप में रहना चाहिये । ऐसा न हो कि वह अपनी उपयोगिता गँवा बैठे और उपयोगकर्त्ताओं के लिए निरर्थक हानिकर सिद्ध होने लगे । धन का उपार्जन, उपयोग एवं वितरण इसी सीमा में आता है ।

जल, वायु, आदि को विषाक्त न बनने की मर्यादा इस स्तर की है। वस्तुओं का अनुपयुक्त उपयोग करके उन्हें नष्ट करना, अन्यान्यों को उस सुविधा से वंचित रखना, उन्हें कुरूप एवं अस्त-व्यस्त स्थिति में रखना पदार्थों का दुरुपयोग है।

परिग्रह को पाप और दान को पुण्य मानने के पीछे यही दर्शन काम करता है कि सम्पदा का न तो अनावश्यक उपयोग किया जाये और न उसे एकस्थान पर एकत्रित होने दिया जाये। एकत्रित सम्पदा सड़न उत्पन्न करती है, उनसे अनेकों दुर्व्यसनों-विकृतियों की विडम्बना पनपती है, ईर्ष्या भड़कती है तथा अपराध पनपते हैं। अध्यात्मवादी परम्परा में संचय एवं दुरुपयोग की भर्त्सना है। आधुनिक साम्यवाद एवं समाजवाद भी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं। उसे सम्प्रति के दुरुपयोग को रोकना एवं सदुपयोग में प्रयुक्त करना ही कहा जा सकता है।

इन दिनों एक अर्थचिन्तन यह चल रहा है कि वस्तुओं का अधिक उत्पादन किया जाये ताकि उत्पादकों को अधिक लाभ मिले। अधिक मात्रा में हुए उत्पादन की खपत के लिए लोगों को अनावश्यक उपभोग करके बर्बाद करने के लिए कहा जाये। उससे समृद्धि भी बढ़ेगी और सुविधा भी। अमेरिका आदि समृद्ध राष्ट्र इसी नीति को अपना रहे हैं। इसका परिणाम यह होगा कि पृथ्वी का पदार्थ भण्डार तेजी से चुकेगा, कारखानों का प्रदूषण बढ़ेगा। मशीनों से जूझने वाला मनुष्य दुर्बल होगा। व्यस्तता बढ़ेगी, साथ ही दुर्व्यसनों की प्रवृत्ति भी, यह पदार्थ का दुरुपयोग है।

सही तरीका वही है कि हल्की मशीनों की सहायता से उत्पादन उतना ही बढ़े, जितना आवश्यक हैं इससे बड़े उद्योगें की तुलना में अधिक लोगों को अधिक काम मिलेगा। सादगी एवं मितव्ययता अपनाने से पदार्थों की अनावश्यक बर्बादी न होगी और वितरण में वह हिस्सा पिछड़े लोगों के पक्ष में भी जा सकेगा। सादा जीवन के साथ उच्च विचारों का अन्यान्योश्रित सम्बन्ध है। सादगी से न केवल शालीनता बढ़ती है वरन् उसके कारण होने वाले

समय, श्रम, बुद्धि और सपत्ति की बचत के लाभ सत्प्रवृत्तियों के संवर्धन के रूप में लगता है । जहाँ पदार्थ के सदुपयोग की आदर्शवादिता काम करेगी, वहाँ यह प्रति साधना भी होगी कि बचत का संग्रह न किया जाये उसे सत्प्रवृत्तियों में ख्पाया जाये । यह दूरदर्शिता ही वस्तुओं का सदुपयोग है । इसे प्रकृति के साथ बरती गई मानवोचित् शालीनता कह सकते हैं । इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये ।

धर्म के यही व्यावहारिक चार चरण हैं, जिन पर चलकर व्यक्ति एवं समाज को श्रेष्ठ एवं समुन्नत बनाया जा सकता है । धर्म-धारणा से अभिप्रायः उन सिद्धान्तों को आचरण में उतारना है, जो सर्वजनीन एवं सर्वकालीन हैं । देश, काल अथवा सम्प्रदाय का इन पर कोई प्रभाव नहीं होता । अपवादों को छोड़कर लगभग सभी धर्म प्रत्यक्ष या परोक्ष में अनेकों अपनाने एवं उन पर चलने की प्रेरणा देते हैं । सिद्धान्तों को अपनाने एवं व्यवहार में उतारने से कोई भी धर्म अपने अनुयायियों को इतना कुछ दे सकता है, जिसे पाकर वे धन्य हो सकते हैं । सामाजिक सुव्यवस्था की धुरी भी इसी पर अवलम्बित है ।

# 17. नैतिकता की खरी कसौटी

पाप क्या है? पुण्य क्या है? सत् क्या है? असत् क्या है? उचित क्या है? अनुचित क्या है? शुभ क्या है? अशुभ क्या है? अच्छा क्या है? बुरा क्या है? मानव जाति ने जब से विचार करना आरम्भ किया तब से ये प्रश्न उसके सामने हैं। ऐसा नहीं कि इनके सार्वभौम उत्तर प्राप्त करने की कोशिश नहीं की गई। परन्तु प्रयत्न के बावजूद भी कोई ऐसा समाधानकारक उत्तर नहीं मिला है जिसे सब देश और सब काल में सबके लिए उयुक्त कह सकें? यही कारण है कि परम पुरातन होते हुए भी ये प्रश्न नित्य नवीन बने हुए हैं।

नैतिकता की मान्यताओं को अधिकांश विचारक देशकाल और पात्र सापेक्ष मानते हैं। इस कारण से एक ही कार्य एक ही समय, एक स्थान में एक व्यक्ति के लिये अच्छा सिद्ध होता है और वही कार्य दूसरे समय, दूसरे स्थान में दूसरे व्यक्ति के लिये अनैतिक बन जाता है। जैसे युद्ध के समय सामूहिक हत्या उचित मानी गई, परन्तु अन्य परिस्थिति में हत्या अपराध है। इस अनिश्चयात्मक स्वरूप के कारण ही, लगता है नैतिक मान्यताएँ जन-साधारण को अनावश्यक अनाकर्षक जचती हैं। उन्हें लगता है कि अच्छे-बुरे का विचार करना समय की बर्बादी है। आज भी संसार में ऐसे लोगों का अभाव नहीं है जो सुकरात को मूर्खराज की उपाधि से विभूषित करते हैं।

सामान्यजन प्रत्येक प्रश्न पर व्यापारी दृष्टि से विचार करते हैं। वे प्रत्येक कार्य को लाभ-हानि की तुला पर तोलते हैं। नैतिक मान्यताएँ इस तुलना से हानिकारक जचती हैं और इस स्वार्थी निष्कर्ष को नैतिक मान्यताओं के स्वरूप की अनिश्चयात्मिकता का बल मिल जाता है। फिर क्या गिलाय और नीम चढ़ी। जन-सामान्य में नैतिकता की ऐसी शोचनीय अवस्था होते हुए भी ऐसा कह सकना सम्भव नहीं है कि वे नैतिक मान्यताओं की पूर्ण उपेक्षा कर सकते हैं। वे जाने-अनजाने कहते ही रहते हैं कि अमुक ने अच्छा नहीं किया, अमुक अन्यायी है, पापी है, दुराचारी है आदि। उनके ये कथन सिद्ध करते हैं कि कोई व्यक्ति भले ही अपने लिये नैतिक आचरण को

अनावश्यक कहे, परन्तु जहाँ दूसरे के आचरण का प्रश्न आता है, उसको आवश्यक मानता है। जिस व्यक्ति से हमारा कोई सरोकार नहीं, हानि-लाभ की आशा नहीं उसके आचरण की भी हम आलोचना करते ही हैं, अच्छे-बुरे का निर्णय करते हैं। इससे स्पष्ट है कि नैतिकता की कसौटी हमारी हानि-लाभ वाली तुलना नहीं हो सकती। वह उससे सर्वथा पृथक् है।

हम दूसरे व्यक्ति को उसके बाह्य आचरण से अच्छा या बुरा ठहराते हैं। हमारे पास इसके अतिरिक्त दूसरा साधन भी नहीं है, परन्तु बाह्य आचरण के आधार पर किया गया नैतिक निर्णय सदा ठीक ही होगा, ऐसा नहीं कह सकते। दो व्यक्तियों का बाहरी व्यवहार एक-सा होते हुए भी एक नीतियुक्त और दूसरा अनैतिक हो सकता है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति ने दया से द्रवित होकर एक भिखारी को एक रुपया दिया और दूसरे ने उसे अपनी आँखों के सामने से हटने के लिए एक रुपया दिया। कहने का मतलब यह है कि एक ने पसीजकर और दूसरे ने खीझकर रुपया दिया। जहाँ तक देने का सम्बन्ध है इस उदाहरण में दोनों ने दिये हैं, समान दिये हैं परन्तु दान के पीछे जो भावना है उनमें जमीन-आसमान का अन्तर है। भावना के कारण एक का वही कार्य नैतिक है तो दूसरे का वही कार्य अनैतिक है। काम अच्छा हो इतना ही नहीं है, बल्कि वह अच्छी भावना से किया गया होना चाहिए।

जो अच्छा काम अच्छी भावना से किया गया हो, उसका परिणाम सदा शुभ ही हो, वह आवश्यक नहीं है। कार्य के परिणाम को उसकी नैतिकता की माप मानना ठीक नहीं है। जैसे मुझे एक घड़ी प्राप्त करनी है। अब में इस लक्ष्य को कई तरीकों से सिद्ध कर सकता हूँ—यथा खरीदकर, माँगकर, चोरी करके। साधन के अनुसार मेरी लक्ष्य प्राप्ति का स्वरूप भी नैतिकानैतिक बनते जाता है। यही कारण है कि महात्मा गाँधी लक्ष्य का ही शुद्ध होना आवश्यक नहीं, बल्कि साधन का भी शुद्ध होना आवश्यक है, कहते थे। उनके अनुसार शुद्ध साधन से ही शुद्ध लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। साम्यवादी नैतिक भूमिका और गाँधीवादी नैतिक भूमिका में यह बुनियादी फर्क है।

अच्छे काम का, अच्छी भावना से शुद्ध साधनों के द्वारा किया जाना, उसके नैतिक होने के लिये अपरिहार्य शर्तें हैं। साथ ही वह काम आत्मस्फूर्त भी हो। जो कार्य दबाव या भय से किया जावेगा। यदि कोई विनोबा जी के साथ पदयात्रा में सुबह शाम होने वाली प्रार्थना में उनके नैतिक भय या नियम के दबाव से शामिल होकर प्रार्थना करता है तो उसका वह कार्य नैतिक नहीं कहा जा सकता। ऊपर से लदा हुआ कार्य नैतिक नहीं हो सकता।

यहाँ तक नैतिकता की मान्यता पर विषयगत दृष्टि से विचार किया गया, लेकिन यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि हम कैसे जानें कि कौन काम शुभ है? कौन अशुभ है? कौन सत् है और कौन असत् कार्य है? इसके लिए सर्वमान्य एक मापदण्ड न हो सकने पर भी वैसे मापदण्ड का सर्वथा अभाव नहीं है। संसार से जितने नीतिशास्त्र के आचारवान् विचारक, संत-महात्मा हो गये हैं वे एक स्तर से घोषित करते हैं कि – **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।** सारे संसार के नीतिशास्त्र का सार संक्षेप है। टॉलस्टाय कहते हैं–जो व्यक्ति जितना कम लेता है और जितना ज्यादा वापस देता है उसी अनुपात में वह उतना ही नैतिक है। महात्मा गाँधी की अहिंसा क्या है–सर्वभूतों से आत्मवत् प्रेम ही तो है।

**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्** इन पाँच शब्दों के लघु वाक्य में समस्त नीतिशास्त्र का निचोड़ सम्मिलित है–यह सहसा विश्वास नहीं होता है। सत्य की सरलता ही उसे पहिचानने में कठिनाई उपस्थित करती है। समस्त नैतिक सिद्धान्त क्या बताते हैं? यही न कि हमारे सारे व्यवहार दूसरों के प्रति इस प्रकार हों जिससे हम अपना सर्वतोमुखी विकास करते हुए दूसरों के उसी प्रकार के व्यवहार वही हो सकता है जो ऊपर के पाँच शब्दों में प्रकट किया गया है। इसी वाक्य का अविकल अनुवाद-सा करते हुए संत कन्फ्यूशियस ने कहा–

**जो व्यवहार तुम अपने प्रति नहीं पसन्द करते, वह दूसरों के प्रति न करो।**

साक्षात् धर्म के लक्षण बताते हुए मनु ने कहा–

**स्वस्य च प्रियमात्मनः**

धर्म का एक प्रयत्न लक्षण अपनी आत्मा को जो प्रिय लगे, वह करना है। अब कोई कह सकता है कि हमारी आत्मा को तो चोरी करना प्रिय है, तो उसका धर्म वही है, परन्तु आप को चोरी करना प्रिय नहीं है क्योंकि जिसे जो काम प्रिय हैं, उसे यदि और लोग करें तो उसे खुश होना चाहिए। कोई चोर नहीं चाहेगा, कि सब चोर हों क्योंकि वैसी हालत में उसका काम नहीं बनेगा। अतः हम जिस कार्य को अपने प्रति नहीं चाहते कि कोई करे उसका आचरण हम दूसरों के प्रति करें एक सच्ची कसौटी है। हम नहीं चाहते कि कोई हमारे साथ झूठा व्यवहार करें। अतः हमें चाहिए कि हम सब के साथ सत्य का व्यवहार करें। हम नहीं चाहते कि कोई हमारा जी दुःखाए। अतः हमें चाहिए कि हम अपने आचरणों से किसी को कष्ट न दें। हम अपनी जान की रक्षा करते हैं, हमें अपनी जान प्यारी है इसी से यह अपरिहार्य व्यवहार निश्चित हो जाता है कि हम दूसरे की जान की रक्षा करें। सत्य, अहिंसा के सिद्धान्त का मूल यही विचार है। इसी प्रकार अस्तेय, अपरिग्रह आदि सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तों के विषय में आप अपने अन्तःकरण से स्वयं जान सकते हैं।

# (18) कल्याण का मार्ग

आमतौर से समझा जाता है, कि हमें जो भी काम करना चाहिए, अपने लाभ के लिये करना चाहिए। दूसरों के लाभ के लिए हम क्यों सर खपावें। बात ठीक है, अपने घर की आग बुझाकर तब पड़ोसी के घर की सुरक्षा की जाती है। मेरी दाढ़ी जल रही हो और दूसरों की भी जलने लगे, तो स्वभावतः मैं पहले अपनी बुझाऊँगा तब दूसरे की ओर ध्यान दूँगा। नेकी, भलाई, परोपकारिता आदि अच्छी चीजें अपने लिए लेना चाहता है। यह नेकी अच्छी वस्तु है तो निस्संदेह उसे पहले अपने लिए लेना होगा। स्वाभाविक स्वार्थ-बुद्धि का यह ही तकाजा है कि हम अपने साथ नेकी करें, अपनी भलाई सोचें, अपने उपकार में प्रवृत्त हों और अपने कल्याण का मार्ग अवलम्बन करें।

एक ही वस्तु प्रयोग भेद से भिन्न प्रकार के परिणाम उपस्थित कर सकती है, सुई कपड़ा सीने का एक अच्छा साधन है, परन्तु यह उसका दुरुपयोग करके शरीर के किसी हिस्से में चुभो दी जाये तो वह कष्टदायक बन जायेगी। भोजन और जल जैसी जीवनोपयोगी पदार्थ यदि अनियमितता के साथ सेवन किये जाएँ, तो नाना प्रकार के रोगों के कारण बन सकते हैं। आत्म-कल्याण एक अत्यन्त उपयोगी जीवन तत्त्व है, परन्तु जब इसका सदुपयोग होता है, तब परमार्थ कहा जाता है और दुरुपयोग की अवस्था में वही स्वार्थ के घृणित नाम से सम्बोधन किया जाता है। वास्तव में स्वार्थ और परमार्थ एक ही वस्तु है, परन्तु एक को आदरणीय दूसरे को तिरष्कृत इसलिए कहा जाता है, कि एक के उपयोग में काम लिया गया है और दूसरा मूर्खतापूर्ण है।

मूर्ख पक्षी दाने के लोभ में फँस जाते हैं और चतुर पक्षी चारों ओर देखकर चोंच खोलते हैं, जैसे उन्हें कुछ खटका प्रतीत हुआ वैसे ही वे उड़ जाते हैं। इस प्रकार चतुर पक्षी तो बच जाते हैं और मूर्ख पक्षी बहेलिये के जाल में फंसकर कष्ट उठाते हैं। स्वार्थ और परमार्थ में उपर्युक्त दो पक्षियों की

विचारधारा के समान ही अन्तर है । स्वार्थी व्यक्ति आज के लाभ को प्रधानता देता है, उसकी दृष्टि बहुत ही संकुचित और विचार-धारा बहुत ही सीमित होती है । आज के, आँखों से दिखाई देने वाले लाभ ही उसकी दृष्टि में लाभ हैं, किन्तु बुद्धिमान, चतुर और परमार्थी भविष्य के परिणामों का ध्यान रखकर आज का काम करता है ।

किसान परमार्थी है, वह अच्छी फसल पाने के लिए आज अपने बीज को खुशी-खुशी खेत में बिखेर देता है । निश्चय ही आप उस मूर्ख पक्षी के कार्य की सराहना नहीं करेंगे, जिसकी दृष्टि केवल सामने वाले दानों तक ही थी और जो आगे रखे हुए जाल की ओर लोभ के मारे ध्यान नहीं देता था, वह अल्पज्ञ पक्षी कुछ थोड़े से क्षणों तक अहंकार में फूला रह सकता है और उन दोनों के लाभ से अपने को सौभाग्यशाली गिन सकता है, परन्तु अन्त में उसे अपनी भूल पर पछताना पड़ेगा । बुद्धिमान पक्षी जान के खतरे और दानों के लाभ की तुलना करता है और भविष्य के परिणामों पर विचार करता है, इस प्रकार वह सामने रखे हुए दानों को बिना किसी हिचकिचाहट के जहाँ का तहाँ पड़ा छोड़कर उड़ जाता है ।

नेकी का-आत्मकल्याण का मार्ग अवलम्बन करने वाले व्यक्ति के सामने इसी तरह की समस्या आती है । एक ओर तो स्वार्थ, भोगविलास, इन्द्रिय-लिप्सा, तृष्णा, लालसा, संग्रह, परिग्रह का प्रलोभन होता है जिनमें लिप्त हो जाने पर भविष्य अन्धकारमय बन जाता है, दूसरी ओर परमार्थ, त्याग, दया, प्रेम, करुणा, सहानुभूति का मार्ग है, प्रत्यक्ष में यह रास्ता सूखा, कष्ट-साध्य और घाटे का प्रतीत होता है, किन्तु अन्त में उसका परिणाम बहुत ही आशातीत तथा आनन्ददायक होता है । जाल के ऊपर पड़े हुए दाने को छोड़कर जो पक्षी उड़ गया था, भले ही वह किसी की दृष्टि में घाटे में रहा, परन्तु जब हरे-भरे पेड़ पर ऊँची डाली पर बैठकर वह प्रसन्नता के मधुर गीत गाता है, तब वह अनुभव करता है, कि जाल के दानों को छोड़कर भी मैं घाटे में नहीं रहा । किसान जब फसल के समय अपना भरा हुआ कोष देखता है तो

उसे प्रतीत होता है, कि खेत में जो बीज मैंने बिखेरा था वह व्यर्थ नहीं गया। उस समय घाटा प्रतीत होता था, परन्तु आज तो जितना दिया गया था, उससे हज़ार गुना वापिस लौट आया।

आप अपनी नेकी के मार्ग पर दृढ़ता से चलते रहिए। अपने वास्तविक कल्याण को दूर-दृष्टि के साथ, विशाल दृष्टिकोण के साथ देखिए। दूसरे लोग, इस दुनियाँ में, बहुत पैसा इकट्ठा करते हुए, विषयभोगों में लगे हुए इन्द्रिय तृप्ति में परायण एवं लालसाओं को पूरा करने में लगे हुए आपको दिखाई पड़ेंगे। यह लोग बाहर से ठाट-बाठ का और तड़क-भड़क का जीवन व्यतीत करते हुए प्रतीत होंगे। आप इनके वैभव को देखकर भूलकर भी ललचाइये मत, क्योंकि यह विनाश के पथ पर दौड़ रहे हैं। तृष्णा, लालसा और अनीति की पाप-वासनाएँ उनके भीतर लुहार की भट्टी की तरह जल रही हैं, एक दिन यह भीतरी ज्वाला बाहर आवेगी और उन्हें जड़-मूल से नष्ट कर देगी।

आप भविष्य के आनन्दमय परिणामों के लिए आज के कठोर, रूखे काम करना आरम्भ कर दीजिये। चतुर किसान की तरह अपनी मानसिक, शारीरिक और भौतिक शक्तियों को ईश्वर के संसार रूपी खेत की ऊपजाऊ मिट्टी में बिखेर दीजिए। लोकहित के, परमार्थ के, धर्म के कार्यों में सब कुछ छोड़कर लग जाइए। अपनी योग्यताओं का बीज परमार्थ के खेत में बोइये और फसल आने तक निष्ठा और विश्वास के साथ अपने स्वेदबिन्दुओं से उस सींचते रहिए। सचमुच एक दिन आप ही बुद्धिमान ठहराये जायेंगे और स्वीकार किया जाएगा कि आप ही वे जोखम का व्यापार करने वाले सच्चे व्यापारी हैं।

आप अपनी आत्मा के गौरव को स्मरण कीजिए, अपनी महानता का अनुभव कीजिए और केवल उन्हीं कार्यों में हाथ डालिए जो आपके पद के अनुकूल हो। सम्राटों के सम्राट् परमात्मा का उत्तराधिकारी राजकुमार मनुष्य, वस्तुतः महान् है। महानता का गौरव इसी में है कि, अपनी मर्यादा पर स्थिर

रह जाये । चकवा प्यासा मर जाता है परन्तु स्वाति बूँद के अभाव में गंदे नाले का पानी नहीं पीता, हंस अपनी मर्यादा की रक्षा करता है, मछली अपनी मर्यादा की रक्षा करती है, हंस मोती न मिलने पर भूखा मर जाता है और मछली जल के अभाव में जीवित नहीं रहती । आप भी अपनी गौरव-मर्यादा से नीचे मत गिरिये । धर्ममय उत्तमोत्तम कार्य करने के लिए आपका जन्म इस पृथ्वी पर हुआ है । परमात्मा का राजकुमार आत्मा अपने पिता की राज-सत्ता को सुव्यवस्थित करने आया है । सरकारी हाकिम देहातों में दौरा करने के लिए भेजे जाते हैं, ताकि वे सम्राट् का शासन सुव्यवस्थित रखने में सहायता करें । आपको इसलिए यहाँ भेजा गया है कि प्रभु इच्छा और आज्ञाओं का संदेश विश्व के कोने-कोने में गुंजित करें और अधर्म को हटाकर धर्म की स्थापना करें । आप अपने पद और जिम्मेदारी का स्मरण कीजिए और इसी की मर्यादा की रक्षा के लिये कार्य करना आरम्भ कर दीजिए, आपके लिए नेकी का यह बहुत ही उत्तम मार्ग हो सकता है ।

अच्छी तरह इस बात को हृदयंगम कर लीजिए जीवन का सच्चा लाभ इसी में है कि आप आत्म-कल्याण के, नेकी और भलाई के मार्ग पर चलें । अपने आचरण को सच्चाई और धर्म-निष्ठा से परिपूर्ण रखें एवं अन्तःकरण के किवाड़ों को सद्भाव एवं सद्विचारों के लिए खोल दें । कल्याणकारी पिता के हैं कल्याणकारी पुत्र । उठो, प्रभु का अवलम्बन ग्रहण करे और नेकी के मार्ग पर अग्रसर हो जाओ । आप की सच्ची भलाई इसी में है ।

# 19. धर्म के नाम पर मानवता का अभाव

धर्म अत्यन्त पवित्र मानवीय आत्माभिव्यक्ति है। धर्म की उत्पत्ति मानवता के कल्याण से जुड़ी हुई है। संसार के सब ज्ञान, अनुभव, नैतिक प्रगति का नवनीत धर्म ही है। सच्ची धर्मभावना से मानव मात्र का कल्याण होता है, किन्तु हम देखते हैं, आज के युग में धर्म की आड़ में धर्मान्धता का प्रचार हो रहा है, साम्प्रदायिकता का जाल बिछता जा रहा है, धार्मिक संस्थाओं में आडम्बर, भोग-विलास तथा बाह्य प्रदर्शन बढ़ते जा रहे हैं। झूठे सारहीन धर्मविश्वास, रूढ़ियाँ, कट्टरता, धर्मान्धता, अज्ञान पारस्परिक विद्वेष फैल रहे हैं। मठ-मन्दिरों की जिन पवित्र सेवा, त्याग, निःस्वार्थ भावना के उच्च उद्देश्यों के लिए स्थापना की गई थीं, वे समय की गति से विलुप्त हो गए हैं।

एक युग था जब मन्दिर का पुजारी ज्ञानी, सुशिक्षित, सच्चरित्र, धर्म का उपदेश देने तथा तदनुकूल आचरण करने वाला संयमी व्यक्ति होता था। भजन, पूजन, कीर्तन, सद्ग्रंथावलोकन, मन्दिर की देख-रेख, मूर्ति को स्नान कराना, मन्दिर में यज्ञादि की देखभाल उसका कार्यक्रम था। समय बदला और प्रभुसेवा में भी धोखेबाजी चल निकली है। आज मन्दिर का प्रसाद दुकानों पर आकर पैसों से बिकता है। उनमें से लाभ कमाया जाता है। कहने को यह प्रभुप्रसाद है, परन्तु उसे चखने के लिए गाँठ में रुपया चाहिए। जिस देश में भगवान का ट्रेड मार्क लगाकर रद्दी, बासी, दुर्गन्धयुक्त, सड़ी-बुसी मिठाइयाँ बेची जाएं, पूजा बिना रुपये-पैसे के न हो सके, पुजारी और महन्त दिन भर गाँजा तम्बाकू, भाँग, अफ़ीम तथा अन्य नशीली वस्तुओं का सेवन कर रात्रि के अन्धकार में परस्त्री भोग, डकैती और खून तक करते रहें और जनता दकियानूसी विचारों व अन्ध-विश्वासों में पड़ी रहे, उसका भविष्य क्या होगा?

धर्मशालाओं में आज मुसाफिर को जो कष्ट होते हैं, जैसी गन्दगी, भ्रष्टाचार, स्वार्थ और चौकीदार का एकछत्र राज होता है, यह प्रत्येक यात्री जानता है। रिश्वत में कुछ न कुछ देते रहने से आप अच्छा कमरा प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा आपको निकृष्ट तथा दुर्गन्धमय अंधेरे कमरे से सन्तोष करना पड़ेगा। धर्मशालाओं में शौचादि का स्थान ऐसा गंदा रहता है कि मानव की गन्दगी और कुरुपता पर दया आती है। आज का धर्म दिखावे का धर्म है। दिन भर व्रत रखने वाले प्रभु का नाम लेने, भजन-पूजन करने, दान देने, सद्ग्रंथों का पठन-पाठन करने या मौन धारण करने के स्थान पर गालियाँ देते रहते हैं, व्रत रखने वाले दुकानदार कम तोलने, काला बाज़ार करने, झूठ बोलने, ग्राहक को ठगने में लगे रहते हैं। कहने को व्रत उपवास से हैं, शाम को मन्दिर में पूजन-दर्शन के लिए भी जाएँगे किन्तु कम तोलना, झूठी बातें करना, व्यर्थ की खुशामद, काला बाज़ारी नहीं छोड़ेगे। यह है, आज का झूठा दिखावे का धर्म।

दिन-रात अपशब्दों का उच्चारण करने, लड़ने-झगड़ने, मारने-पीटने, गुस्सा रहने वाली कर्कशा स्त्रियां अपने आपको धर्म का ठेकेदार समझती हैं। जो स्त्रियाँ पढ़ना नहीं जानती या अक्षर ज्ञान मात्र लेकर रामयण, गीता आदि में चिपकी रहती हैं, वे अपने को धर्म का दावेदार मान बैठी हैं। जो हफ्ते में एक बार गंगा जमुना में स्नान कर लेती हैं, वे अपने को पवित्र मानती हैं। जिन्हें सारहीन धार्मिक विश्वासों ने अकर्मण्य और कूपमंडूक बना दिया है, जो दिन-रात बहुओं पर अत्याचार करती हैं, उन्हें स्वयं पीटती या पति से पिटवाती हैं, वे अज्ञानी स्वयं को धर्म के आवरण में छिपाने का प्रयत्न करती हैं। बड़े-बड़े पूँजीपति रात-दिन काला बाज़ार कर जनता को लूटमार धोखा देकर खूब रुपया ऐंठते हैं। फिर प्रभु को रिझाने और पाप धोने के लिए गंगा

स्नान, दान आदि का स्वांग बनाते हैं ।

धर्म मानव जीवन की प्रधान आवश्यकता है । पूजा और उपासना से मनुष्य का अन्तःकरण निर्मल होता है और आत्मबल बढ़ने से आत्मा सच्चे सुख एवं शान्ति की ओर अग्रसर होती है । आज धर्म एवं उपासना के नाम पर केवल कुछ रूढ़ियाँ प्रचलित रह गई हैं । इसमें सुधार होना मानवता की रक्षा के लिए परमावश्यक है । धार्मिक विश्वास हमारे प्रत्येक कार्य और विचार में ओत-प्रोत होना चाहिए । जीवन की गतिविधि साधनामय होनी चाहिए । पूजा-उपासना से लेकर दैनिक जीवन के सामान्य कार्य तक साधनामय हों तभी हम सच्चे साधक एवं प्रभु विश्वास बन सकते हैं ।

# 20. राजनैतिक क्षेत्रों में धर्म का नितान्त अभाव

आज की राजनीति स्वार्थ, भ्रष्टाचार, दूसरे राष्ट्रों को हड़पने, अपना साम्राज्य फैलाने के उपक्रम, धोखा, घृणा, विद्वेष और हिंसा से परिपूर्ण है। आज का शासन गुटबन्दी का शासन है। एक ओर ब्रिटेन-अमरीका गुट है, तो दूसरी ओर रूस-चीन जोर मार रहे हैं। बिना किसी गुट में सम्मिलित हुए, बिना कूटनीति के प्रयोग किये किसी राष्ट्र का अस्तित्व निरापद नहीं।

राजाओं का निरंकुश शासन-युग समाप्त हो गया है। जनमत का आदर हो रहा है। जनता का राज्य ग़रीबी, मजदूरी, बीमारी, आर्थिक कष्टों को दूर नहीं कर पा रहा है। प्रायः जनता को भुलावे में डालकर डिक्टेटर जन्म ले रहे हैं और डिक्टेटर जनमत की परवाह नहीं कर रहे हैं। आज की राष्ट्रीयता संकुचित एवं आक्रामक राष्ट्रीयता हैं फासिस्ट दल जनमत की परवाह नहीं करता। वह अपने विचार एक विशेष प्रचार-पद्धति से जनता पर थोप देता हैं फैस्जिम कोई नई स्वयंस्थित विचारधारा नहीं, प्रत्युत पूँजीवाद का खूनी रक्षक भर है। ग़रीबी दूर करने का भुलावा देकर वह जनता का ध्यान आर्थिक अधिकारों और उन्नति से हटाता है।

फासिज्म दूसरे राष्ट्रों की निर्बलता, पिछड़ेपन, निर्धनता, असभ्यता पर पनपता है। असभ्य तथा पिछड़े हुए देशों को हथिया कर अपने अधिकार में कर लिया जाता है। पिछड़े हुए राष्ट्रों पर जो भयंकर अत्याचार किये जाते हैं, उनका वर्णन नहीं किया जाता। अबीसीनियाँ और यूथोपिया इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। फासिज्म में एक देश के विरुद्ध विषैला प्रचार किया जाता है, जो प्रायः मिथ्या होता है। फासिस्ट प्रोपेगंडा वाला डिक्टेटर अपनी प्रजा में यह प्रचारित करता है—

**अमुक राष्ट्र ने, जो हमारे पड़ोस में है, हमारे यहाँ स्थिर नागरिकों पर बड़े-बड़े अत्याचार किये हैं। वह हमारा शत्रु है। हमें अपनी आबादी को बसाने के लिये स्थान चाहिये। अतः उस पर आक्रमण कर देना चाहिए।**

इस मनोवृत्ति से परस्पर घृणा, द्वेष, कटुता, शत्रुता की वृद्धि होती है।

एक राष्ट्र के प्रति विषैला प्रचार करता है । साम्यवाद ऐसा राजनैतिक धर्म है, जो समाज में एक पार्टी का हित चाहता है । दूसरी पार्टी में चाहे कोई कितना ही अच्छा हो, साम्यवाद की दृष्टि से हेय है । साम्राज्यवाद पूँजीवाद वृत्ति का परिणाम है । हमारा साम्राज्य बढ़ता रहे, चाहे उससे जनता का लाभ हो या न हो, इससे हमें मतलब नहीं । पूँजीवाद व्यवस्था में सबसे बड़ा दोष यह है कि उसका आधार व्यक्तिगत लोभ है । उसमें मानवता के कल्याण का कोई स्थान नहीं । समाज के लोग बिना वस्त्र घूम रहे हों, परन्तु पूँजीवाद देश विध्वंसक गोले, बन्दूक, आतिशबाजी बनाने में कपड़े की वनिस्पत अधिक दिलचस्पी लेता है ।

आज प्रजातन्त्र का युग है परन्तु प्रजा अशिक्षित, मूर्ख, अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, धार्मिक कुचक्रों में बँधी हुई हैं अवसरवादी, ढोंगी नेता, भोली जनता की अशिक्षा से लाभ उठाते हैं । प्रजा का शोषण चलता है । अधिकारी समझता है कि यह उसका अन्तिम अवसर है । अतः वह उचित-अनुचित रूप से अधिकतम रुपया खींच लेना चाहता है । रुपये के बल पर वोट मिलते हैं, जनता को धोखे में डाल दिया जाता है । कल जो किसी रिश्वतखोरी, बेईमानी या अनुचित कार्य करने पर निकाल दिया गया था, आज वही रुपये तथा प्रोपेगन्डा के बल पर जननेता का स्वाँग बनाता है । कुछ राजनैतिक दल धर्म की आड़ में अपना स्वार्थ सिद्ध करती हैं । कोई किसान मजदूरों का नारा लगाकर जनता की सहानुभूति चाहता है । आज राजनीति के क्षेत्र में अज़ीब खींचतान, संघर्ष, झूट, कपट, प्रोपेगण्डा, स्वार्थनीति चल रही है । युद्ध के बादल मँडरा रहे हैं । जब तक ऐसा कुटिल वातावरण चलता रहेगा, तब तक मानवता पतित होती रहेगी ।

यह हमारे राज्य का व्यक्ति है । अतः इसकी उचित शिक्षा अपने ही राज्य के व्यक्तियों को प्रोत्साहन, आर्थिक सहायता या तरक्की नौकरी देनी चाहिए । यह प्रान्तीयता की भावना आज अपने घृणात्मक रूप में देखी जा रही है । सरकारी नौकरियों में यदि कोई पंजाबी अफसर है तो उसकी दृष्टि में पंजाब के अतिरिक्त अन्य राज्य वाले किसी योग्य नहीं हैं । बंगाली सज्जन अपने बंगालियों को ही लेना पसन्द करते हैं । सिंधी सिंध वालों और यू.पी. उत्तरप्रदेश में रहने वालों को आगे बढ़ाना चाहते हैं । प्रान्तीयता की भावना

हमारी संकुचिता की प्रतीक है । इससे यह ज्ञात होता है हमारे हृदय कितने छोटे हैं । हमारी आत्मीयता के ये छोटे-छोटे दायरे हिन्दू-समाज के कलंक हैं । जब हम एक राज्य के व्यक्ति से पक्षपात करते हैं और दूसरे का सच्चे हठ की अवलेना करते हैं, तो हम एक पाप करते हैं । पक्षपात हमारी राजनीति का एक बड़ा शत्रु है । पक्षपात के कारण अयोग्य, अशिक्षित, अनधिकारी व्यक्ति मिनिस्ट्री, म्यूनिस्पेलटी की मैम्बरी का आनन्द भोगता है, भ्रष्टाचारी शासन करता है, जबकि योग्य विद्वान अधिकारी सज्जन पड़े सड़ा करते हैं ।

आजकल के भ्रष्टाचार का तीसरा कारण अवसरवादिता है । अब अवसर है, हम अधिकारी हैं, अपने महकमे के सरताज हैं, हमारा अपना राज है । अतएव अपना उल्लू सीधा कर लेना चाहिए । ऐसी विचारधारा हमारे पतन का ही कारण है । आज राजनैतिक जीवन में अधिकांश नेता अधिकारी अफसर लोग अपने-अपने अवसर से पूरा-पूरा लाभ उठाने की चिंता में लगे हुए हैं । इस अवसरवादिता का पतित रूप कन्ट्रोल तथा पुलिस-कचहरियों आदि के विभागों में अपने सबसे घिनौने रूप में देखा जा सकता है ।

पुलिस वाला इक्के वालों, ताँगे वालों, छोटे-छोटे फेरी वालों, खोमचा, फल आदि बेचने वालों, पटरियों पर बिसाती की छोटी-छोटी दूकान लगाने वालों से रिश्वत लेते हैं । सबका दैनिक रुपया बंधा है । शाम को प्रत्येक ताँगा, रिक्शा या बिसाती अपनी अर्जित आय का एक भाग लाकर कांस्टेबल साहब की जेब में डाल जाता है । चुंगी कस्टम आदि में मुसाफिर या व्यापारी को पकड़ लिया जाता है । राशन की दूकानों पर कम तोलने, कूड़ा-कर्कट मिलाकर गेहूँ आदि निकाल लेने, दूध में पानी की मिलावट, घी में वनस्पति का मिश्रण, कालीमिर्च में पपीते के बीज, जीरे में सींकों के जीरे का पुट आदि बाज़ार की अनैतिकता का कारण निरीक्षकों को मिलने वाली रिश्वत ही है ।

विगत कुछ वर्षों में देश में चोरी और डाकों का दौर-दौरा चल पड़ा है । स्कूल-कॉलेज में छोटी-छोटी वस्तुओं की चोरी, फाउन्टेन पैन, पेंसिल, रूमाल आदि उचाटने की चोरी, फाउंटेन पेन, पेंसिल, रूमाल आदि उचाटने को तो बुरा ही नहीं माना जाता । उधार चीज लेकर, विशेषतः रुपया या पुस्तक वापस न करना तो हमारी आदत का अंग बन गया है । जो खुले बाज़ार में

प्राप्त नहीं होता, वह चोरबाज़ार में अनायास ही प्राप्त हो जाता है । रेल विभाग में रिश्वत खूब चलती है । व्यापारी अपने व्यापार के लोभ में अनाप-शनाप रिश्वत देकर माल की बिल्टी तैयार करा लेते हैं । बिना टिकिट सफर करने की अनैतिक आदत भी वृहत् संख्या में दृष्टिगाचर हो रही है । सरकारी दफ्तरों में घूस का यह जोर है कि एक क्लर्क अपने ही आफिसर के दूसरे क्लर्क से चाय-पानी के पैसे ले लेता है । दिनों-दिन बढ़ती हुई यह चोरी, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार और छीना-झपटी, भोगवाद, धन-लिप्सा का विराम कम होगा, कहा नहीं जा सकता । भोग गर्भित स्वार्थ के कारण आज प्रायः सभी प्रकार के नैतिक बन्धन शिथिल पड़ गये हैं ।

सरकारी योजनाओं की विफलता में उनके कर्मचारियों, नेताओं पथ-प्रदर्शकों की स्वार्थजन्य अनैतिकता का मुख्य हाथ है । आज एक व्यक्ति कुछ प्रोपेगण्डा करता है, कल मंत्री या अधिकारी बनकर राष्ट्र की उपेक्षा कर निजी स्वार्थ को सर्वोपरि समझने लगता है । पिछड़े और दलित वर्गों की आवाज़ को दबाता है और अपने खूनी पंजों से बहुसंख्यक जनता की सामाजिक दासता की बेड़ियाँ सख्त कर देता है । अनेक नेता घर पर नौकरों, मजदूरों को मारते-पीटते तनख़्वाह नहीं देते हैं, बाहर जनता में प्लेटफार्म पर मजदूरों का पथ-प्रदर्शन का ठेका लेते हैं । स्वयं मदिरा पान कर दूसरों को मदिरा की असंख्य बुराइयाँ दिखाते हैं, स्वयं रेशमी सिल्क आदि घर में पहिनकर, बाहर खद्दर पहिनकर निकला करते हैं । कहते कुछ हैं, करते कुछ उलटा ही हैं । वचन तथा आचरण में सर्वत्र दुरंगपन चल रहा है । इसे कहते हैं करनी, कथनी में भेद ।

# 21. धर्म एक–स्वरूप सम्प्रदाय अनेक

संसार में हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, ताओ, कन्फ्यूशियन, जैन, बौद्ध, यहूदी आदि विभिन्न नामों से प्रचलित धर्म-सम्प्रदाओं पर दृष्टिपात करने से यही पता चलता हे कि उनके बाह्यस्वरूप एवं क्रिया-कृत्यों में जमीन-आसमान जितना अन्तर है। क्रिया-कृत्यों में यह अन्तर होना उचित भी है। क्योंकि जिस वातावरण, जिन परिस्थितियों में वे पनपे और फैले हैं, उनकी छाप उन पर पड़ना स्वाभाविक है। मनीषी, महामानवों ने देशकाल, परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए श्रेष्ठता संवर्द्धन एवं निकृष्टता निवारण के लिए जो सिद्धान्त एवं आचारशास्त्र, विनिर्मित किए, कालान्तर में वे ही धर्म-सम्प्रदायों के नाम से जाने लगे। इस कारण उनके बाह्य कलेवर में विविधता होना स्वाभाविक है। फिर भी जहाँ तक मौलिक सिद्धान्तों की बात है, यह सभी तथाकथित धर्मों में एक नहीं हैं। जबकि एक सर्वाभौम सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करना मानव का अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए।

सभी प्रचलित धर्मों में 'प्रार्थना' को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया एवं अपने दैनिक क्रिया-कृत्यों में सम्मिलित किया गया है। मनश्चिकित्सकों एवं मनोविश्लेषकों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि धार्मिक कर्म-काण्डों में जो प्रार्थना की जाती है एवं किसी न किसी प्रकार श्रेष्ठ विचारों के स्वाध्याय का क्रम चलता है–वह अशुभ एवं निकृष्ट चिंतन से उत्पन्न मनोरोगों और मनःशारीरिक रोगों के उपचार के लिए सद्विचारों की स्थापना में रामबाण औषधि का काम करता है। अमेरिका के विख्यात मनोविज्ञानिक डॉ. ब्रिल ने कहा है–

**कोई भी व्यक्ति जो वास्तव में धार्मिक है, मनोरोगों का शिकार नहीं हो सकता।**

मौलाना रूम ने कहा है–

**रूह की दोस्ती इल्म और ईमान से है, उसके लिए हिन्दू, मुसलिम, ईसाई आदि में कोई फर्क नहीं है।**

प्रसिद्ध ईसाई धर्मोपदेशक जस्टिन ने ईसाइयों को उपदेश करते हुए कहा–

**जितनी भी श्रेष्ठ विचारणायें हैं, वे चाहे किसी भी देश या धर्म की हों सब मनुष्यों के लिए ईश्वरीय निर्देश की तरह है ।**

शिव महिमा में उल्लेख है–

**जिस प्रकार से बहुत सी नदियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार से घूमकर अन्ततः समुद्र में ही जाकर गिरती हैं, उसी प्रकार मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार अलग-अलग धर्म पंथों से चलकर उसी एक उसी ईश्वर तक पहुँचती हैं । परन्तु यह वैदिक धर्म की मान्यता के विरुद्ध है ।**

इंजील ने लिखा है–

**मनुष्य के नथुनों में जितने श्वास आते हैं, उतने ही ईश्वर तक पहुँचने के रास्ते हैं ।**

चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक कन्फ्यूशियस का कथन है–

**अलग-अलग धर्मों की प्रेरणाएँ एक-दूसरे की विराधी नहीं, पूरक हैं । यह वेद की मान्यता के विरुद्ध है ।**

प्रसिद्ध सन्त जरथुस्त के अनुसार–

**हम संसार के उन सभी धर्मों को मानते और पूजते हैं जो नेकी सिखलाते हैं ।**

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है–

**सभी मनुष्य भिन्न-भिन्न पंथों से चलकर अन्ततः ईश्वर तक ही पहुँचते हैं ।**

अनेकों मनीषियों, युगदृष्टा ऋषियों ने इसे स्वीकार किया है कि विभिन्न धर्मों में वर्णित आदर्श एवं सिद्धान्त सनातन नहीं हैं क्योंकि सनातन तो केवल एक वैदिक धर्म ही है ।

हजरत ईसा ने एक बार कहा था –

**मैं प्रचलित धर्मों को नष्ट करने नहीं आया बल्कि उन्हें पूरा करने आया हूँ ।**

विभिन्न साम्प्रदायिक दंगे-फसाद उसी एकाकी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप ही होते हैं, जिनमें धर्मों के बाहरी स्वरूप को देखकर ही विभेदता का अनुमान कर लिया जाता है । उस मौलिक एकता की ओर उथली दृष्टि होने से लोगों का ध्यान ही नहीं जाता, जिसमें एक लक्ष्य को लेकर धर्म के विविध कलेवरों का आविर्भाव हुआ । सबके धर्म अलग हो नहीं सकते, सत्य ही सबका धर्म है । ऐसी मान्यता वेद विरुद्ध है ।

अतः उपरोक्त विवेचना से यही निष्कर्ष निकलता है कि विविध धर्मों के बाह्य कलेवर एवं क्रिया-कृत्यों में न्यूनाधिक भिन्नता भले ही हो, परन्तु सबका प्राणतत्त्व एक सत्य ही है । धर्म का सच्चा स्वरूप वस्तुतः वही है जो सत्य एवं शाश्वत सिद्धान्तों के रूप में सत्य धर्मों में विद्यमान है । धर्म के उस सत्य को हृदयंगम कर व्यावहारिक जीवन में समाविष्ट किए जाने से ही सबका कल्याण सम्भव हो सकेगा और मानवीय समाज सुख-शान्ति का रसास्वादन कर सकेगा । मुक्ति सत्कर्मों, शुद्धाचरण एवं प्रभुभक्ति से है न कि तीर्थों पर स्नान आदि करके कर्मकाण्ड से । जैसे गुरु गोबिन्दसिंह जी लिखते हैं–

**तीर्थकोटि किये इसनान, दिये बहुत दान, महाव्रत धारे ।**
**देस फिरयो करि भेस, तपोवन, केस धरे न मिले हरि प्यारे । ।**

# 22. सर्वधर्म समन्वय क्यों और कैसे?

अपने को धार्मिक कहने वाले व्यक्तियों को हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—(1) अन्वयी, (2) प्रत्ययी, (3) समन्वयी। अन्वय का अर्थ (अनु+अय) पीछे जाना, प्रत्यय का अर्थ (प्रति+अय) विरुद्ध जाना और समन्वय का अर्थ (सम+अनु+अय) भले प्रकार पीछे जाना है। अन्वयी उन व्यक्तियों को कहते हैं, जो बुद्धि बेचकर किसी बात का अंधानुकरण करते हें। अमुक बात प्रचलित है बस। इसीलिए उन्हें स्वीकार है। इतने लोग इसे मानते हैं। फिर यह गलत कैसे हो सकती है? बस। इतना ही तर्क उनके लिए काफी है। किसी प्रख्यात व्यक्ति या मोटी पुस्तक ने उस बात का समर्थन कर दिया। बस। यह बात भी सन्तोष के लिए पर्याप्त है। जो चीज जैसी उनके सामने है, उसको वे सर्वश्रेष्ठ समझ बैठते हैं। इतना कष्ट कौन करे जो यह सोचे कि यह बात देशकाल के अनुरूप है या नहीं, इससे हमें लाभ होगा या हानि। अज्ञात भेड़ों का स्वभाव यह है कि एक भेड़ का मुँह जिधर को उठ जाये और वह जिधर भी चल पड़े इधर ही झुण्ड की अन्य भेड़ें भी चल देंगी।

उन्हें यह सोच-विचार करने की जरूरत प्रतीत नहीं होती कि हम कहाँ जा रही हैं और क्या परिणाम उठावेंगी। अधिकांश धार्मिक ऐसे ही अन्वयी होते हैं वे निकटतम परम्परा से चिपट जाते हैं और आत्मिक निर्बलता के कारण अपने आस-पास के लोगों के विचारभार से इतने दब जाते हैं कि स्वतंत्र रूप से उसके हानि-लाभों पर विचार करते हुए उन्हें डर-झिझक और कष्ट प्रतीत होता है अनेक मनुष्य ऐसे ही संकुचित दायरों में बंधे हुए हें और कष्टकर प्रथाओं का अनुयायी बड़े पढ़े-लिखे लोग भी मिल सकते हैं जो सब दृष्टियों से त्याज्य और समाज की वर्तमान अवस्था के बिल्कुल प्रतिकूल है। ऐसे अन्ध-अनुयायियों को अन्वयी कहा जायेगा।

चाहे कोई धर्म कितना ही बुरा क्यों न हो पर उसके मूलभूत सिद्धान्त दूसरों से टकराते नहीं, किन्तु अज्ञान और अन्धानुकरण जैसी जो वस्तुएँ मिलती हैं तो प्रत्यय उत्पन्न होता है। 'मैं दूसरों की बात को नहीं मानूँगा।'

ऐसा प्रत्ययी का दृढ़ निश्चय होता है । मैं सच बोलता हूँ और सब झूठे हैं, ऐसी मान्यता प्रत्ययी ही कर सकता है । एक बार दो मनुष्यों में लड़ाई हो रही थी, एक कह रहा था, कि मैंने बिल्कुल झूठ कहा है ऐसा हो ही नहीं सकता, पहाड़ तो अपनी जगह पर से जरा दूर भी चलने में असमर्थ हैं । दोनों ही अपनी बात पर जोर दे रहे थे और विरोधी की हठधर्मी से चिढ़कर लड़ने-मरने पर उतारू थे । गाली-गलौज हो रही थी और हाथा पाई की तैयारी थी । इतने में एक विचारवान सज्जन उधर से निकले और लड़ाई का कारण पूछा, जब दोनों की बात सुन चुके तो वे मन ही मन हँसे और झगड़े का कारण समझ गये ।

उस सज्जन ने पहाड़ दौड़ने की बात का आग्रह करने वाले से पूछा कि भाई ! जब तुमने पहाड़ दौड़ते देखे थे, तो रेलगाड़ी में तो नहीं बैठे थे ? उसने उत्तर दिया—हाँ जी, रेलगाड़ी में यात्रा करते समय ही पर्वतों की घुड़दौड़ मुझे दिखाई दी थी । तब उस सज्जन ने समझाया कि मित्र ! रेल के दौड़ने से पर्वत चलने का भ्रम होता है । दूसरे से उन्होंने कहा कि तुम्हें किसी बात का खंडन करने से पूर्व उस बात के स्थूल रूप को झूठा करार न दे देना चाहिए, वरन् कहने वाले के दृष्टिकोण, उसकी मानसिक योग्यता और घटना का वास्तविक कारण तलाश करना चाहिए ।

आये दिन साम्प्रदायिक कलह और विरोधी विचार वाले को शत्रु समझ लेने का कारण यह प्रत्यय ही है । जो मैं कहता हूँ वही ठीक है, केवल मैं ही सत्य कहता हूँ ऐसा मानना प्रत्यय है । प्रत्यय का निश्चित परिणाम कलह है । अन्यथा धर्म पृथक्-पृथक् तो नहीं है और सत्य धर्मी आपस में टकराते नहीं । विचार भिन्नता स्वाभाविक नहीं वरन् आवश्यक है फिर लड़ने झगड़ने का क्या कारण ? जो धर्म के नाम पर दूसरे का खून पीने खड़े होते हैं समझ लीजिये कि वे प्रत्ययी हैं ।

इन दोनों तामसी-राजसी अवस्थाओं से ऊपर सत् है । सतोगुण के साथ जब धर्म तत्त्व का सम्मिश्रण होता है तो मनुष्य समन्वयी बन जाता है । भले प्रकार पीछे चलने वाला वह है जो किसी वस्तु का वास्तविक स्वरूप देखता है,

उसके गुण-दोषों को पहचानता है और उपयोगी पदार्थ को ग्रहण करता है। राजहंस न तो पानी से द्वेष करते हैं और न दूध से राग। उन्हें चाहे दूध में पानी मिला हुआ दिया जाये या पानी में दूध। वे न तो झुंझलाते हैं और न किसी को दोष देते हैं वरन् अपने काम के योग्य सार वस्तु निकाल लेते हैं। अमुक धर्म अच्छा है और अमुक बुरा इस झगड़े में राजहंस वृत्ति के विचारवान सज्जन नहीं पड़ते। वे अपने काम के योग्य वस्तु ग्रहण कर लेते हैं और अनुपयोगी वस्तु की उपेक्षा कर देते हैं। सभी धर्म सत्य की ओर हमें अग्रसर करते हैं, किन्तु मानवकृत होने के कारण वे सभी अपूर्ण हैं, अधिकतर असत्य ही भरा पड़ा है।

यदि किसी छोटे कपड़े में फिट रहने योग्य ही अपने शरीर को बनाये रखने का प्रयत्न करेंगे तो आपको चारों ओर से अपना बदन कस देना पड़ेगा और अपने वृद्धिक्रम को रोक देना पड़ेगा। वस्त्र के मोह पर शरीर की वृद्धि का बलिदान करना पड़ेगा। धर्मशास्त्र आप से निवेदन करता है कि ऐसा मत कीजिए आप शरीर को बढ़ने दीजिए और जो कपड़ा छोटा प्रतीत होता है उसे बदल लीजिये। सभी धर्म में कुछ न कुछ गुण हैं और सभी में कुछ न कुछ दोष। इसलिए निष्पक्ष होकर उन्हीं सिद्धान्तों को अपनाइए जो आपको आत्मकल्याण की ओर अग्रसर करते हैं आप उन्हीं प्रथाओं को अपनाएँ जो वेद में प्रतिपादित हैं और आत्मसंतोष प्रदान करती हैं।

आपकी आध्यात्मिक चेतना में यदि कोई मजहबी मान्यता विरोध उत्पन्न करे, यदि आपकी आत्मा पुकारे कि मेरे लिए यह रिवाज असत्य है, तो आप उस प्रथा को मानने से इन्कार कर दीजिए। मार्ग आत्मा को उन्नति के लक्ष्य पर पहुँचाने के लिए है, सभी मार्गों पर चलने के लिए ही आत्मा का अस्तित्व नहीं है। आप मानसिक दासता के विरुद्ध बग़ावत का झण्डा खड़ा कर दीजिए, दूसरे लोग ऐसा कहते हैं या मानते हैं यह कोई कारण नहीं है जो आपको भी वैसा ही करने या मानने के लिए बाध्य करे। हर व्यक्ति अपनी अलग कक्षा में विकास कर रहा है। आप का विकासक्रम भी अलग है। हर

व्यक्ति का धर्म की मान्यता दूसरे से सर्वथा भिन्न है, आप का धर्म भी दूसरों से बिल्कुल स्वतंत्र है। आप अपनी आत्मा में उठने वाले ईश्वरीय सन्देश को सुनिए और उसी के अनुरूप मानसिक भोजन जिस खेत में भी मिले उसमें से चर लीजिए। सब धर्मों का सार ग्रहण कीजिए। समन्वयी बनिए, धर्मों से बल प्राप्त कीजिए, पर उन्हें भूलकर भी आत्मा का हनन करने वाला मत बनने दीजिए।

कहना न होगा कि कोई-सा सम्प्रदाय हो या कोई-सा भी धर्म हो वह मानव धर्म का एक अंग, एक इकाई, एक मार्ग भर है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों, भिन्न-भिन्न भौगोलिक वातावरणों में उत्पन्न होने के कारण इनमें व्यावहारिक दृष्टि से अंतर है। इन्हें पृथक्-पृथक् मानने में कोई लाभ नहीं है, सिवाय हानि के। सत्य कभी असत्य में परिवर्तित नहीं हो सकता। सत्य सार्वभौम होता है।

# 23. सब धर्मों की मौलिक एकता

धर्म उत्कृष्ट सिद्धान्तों के ऊपर अवस्थित होता है। इस दृष्टि से देखा जाये तो सभी धर्मों का लक्ष्य वस्तुतः एक है। विभिन्न सामाजिक परिवेश एवं भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण उनके सिद्धान्तों के प्रस्तुतीकरण में थोड़ा अन्तर हो सकता है, परन्तु इन सबके लक्ष्य में कहीं कोई अन्तर नहीं पड़ता। ईश्वर के प्रति दृढ़ आस्था सभी धर्मों का मूलाधार है, परन्तु जो ईश्वर नहीं है उनको ईश्वर मानना ईश्वर में आस्था नहीं हो सकती। एक मूर्ति पूजक की आस्था मूर्ति में है, ईश्वर में नहीं। गुणों के आधार पर ईश्वर के अनेक नाम हैं, परन्तु जिन नामों को ईश्वर माना जा रहा है, वे ईश्वर के नाम हैं ही नहीं। विभिन्न धर्मों में प्रभु को भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है, परन्तु मूलतः सभी इस बात पर एकमत हैं कि प्रभु एक है तथा सबका पालनहार है। वैदिक ऋचाओं में उल्लेख है—**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** अर्थात् एक ही प्रभु को विद्वान् विभिन्न नामों से पुकारते हैं। ईश्वर के निराकार, विराट् व अविनाशी स्वरूप का उल्लेख वेद के पुरुष सूक्त में इस प्रकार मिलता है—

**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।**
**स भूमिं सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम।**

वह विराट् पुरुष हज़ार, सिरों अनन्त चक्षुओं और अनन्त चरणों वाला है। वह भूमि को चारों ओर से व्याप्त करके और दस अंगुल परिमाण अधिक होकर अर्थात् ब्रह्माण्ड से बाहर भी व्याप्त होकर अवस्थित है।

आगे के श्लोक में पुनः इस बात को उद्धत किया गया है कि वह कारणावस्था (निराकार) में विद्यमान ईश्वर, प्राणियों के भोग्य के निमित्त ही जगद्वस्था को प्राप्त होता है। उस पुरुष का ही एक अंश यह जगत् रूप है। **एकोऽहम् बहुस्यामि** का ईश्वरीय उद्घोष इस बात का साक्षी है कि यह सारा संसार उसी परम पिता परमेश्वर का प्रतिरूप है।

प्रभु की सर्वव्यापकता की ओर इंगित करते हुए क़ुरान (57/13)

कहता है—वह आदि है, अन्त है, बाहर है, भीतर है तथा सर्वज्ञ है। वह पुनः यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। **फाएनमा तबल्लू फमसा बज हिल्ला** अर्थात् जिस ओर भी तुम दृष्टि फेरी, अल्लाह का जलवा नजर आयेगा। सूफी मत भी इस बात को स्वीकारता है। कि ईश्वर एक तथा अल-हक (परम-सत्य) है तथा संसार उसका जिल्ल (वास्तविकता की अभिव्यक्ति) है। ईसाइयों की धर्म पुस्तक बाइबल में कहा गया है—परमेश्वर एक है जो निरंजन, निराकार और ज्योतिस्वरूप है। यहूदी मतानुसार प्रभु एक ही निराकार तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का स्रजेता सृष्टि का पिता है। पारसी धर्म ने भी प्रभु को एक तथा अहुरमजद (सर्वशक्तिमान) बताया है।

प्रभु निराकार है, अतः उसे बोधगम्य बनाने हेतु सभी मतों ने आत्मज्ञान की ओर अग्रसर होने के लिए व्यक्ति को उत्प्रेरित किया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में मैत्रेयी-विश्वामित्र संवाद का उल्लेख मिलता है। मैत्रेयी के प्रश्नोत्तरों में महर्षि कहते हैं—हे मैत्रेयी! आत्मा ही देखने योग्य, सुनने योग्य, मनन करने योग्य और अनुभव करने योग्य है। स्वयं को, आत्मा को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। वस्तुतः आत्मज्ञान से व्यक्ति की विभेद दृष्टि मिट जाती है तथा वह कण-कण में प्रभु का दर्शन करने लगता है। यह जगत् ही उसकी दृष्टि में प्रभु हो जाता है।

आत्मा के अमरत्व सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी कहीं कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। प्रायः सभी धर्मों ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि आत्मा का नाश नहीं होता, वरन् इसका मात्र रूपान्तरण होता है। इससे जीवन में कर्मफल की भी पुष्टि होती है। अगले जन्म में भी कर्मफल मिलने के प्रति विश्वस्त होकर व्यक्ति दुष्कर्मों से बचता तथा सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है। भारतीय धर्म दर्शन तो प्राणियों के अनेक योनियों में कर्मानुसार भ्रमण करने की बात कहता है। उसके अनुसार सर्वश्रेष्ठ योनि मानव को ही है, परन्तु उत्कृष्ट कर्म से च्युत होने पर उसकी अवनति भी सम्भव है। महान्

सूफी संत महात्मा रूमी ने अपने ग्रंथ 'असनवी' में लिखा है कि मैंने अनेकों जन्म लिये तथा 770 शरीर धारण किये। क़ुरान में भी यही उल्लेख मिलता है–

**वकीहा नोई दुकुम तमिनहा नुखरूजकुम् एलात्।**
**यारती न प्रखह मिलहा खलकनाकुम्।।**

मैं उसको मिट्टी में लौटा दूंगा और उसको फिर निकाल लूँगा और उसको फिर निकाल लूंगा, लगातार आखिर तक।

दूसरे स्थान पर पुनः कह गया है कि–

**मैंने तुम्हारे मर जाने के बाद पुनः पैदा किया ताकि तुम सुकर्म करो।**

पतित कर्म किये जाने पर ईश्वर द्वारा बन्दर और सूअर बनाए जाने के उल्लेख (क़ुरान 5/1/4) में मिलता है।

ईसाई ग्रंथ की यह घोषणा है कि देखो मैं तुमसे एक रहस्यपूर्ण बात कहता हूँ। वह यह है कि हम सभी सोचेंगे तो नहीं, पर हम सबका रूपान्तरण हो जायेगा। पुनः (पतरस 1.23) यह उल्लेख मिलता है कि तुमने नाशवान् नहीं अविनाशी बीज से ईश्वर के जीवित और शाश्वत् शब्द के द्वारा नया जन्म पाया है। यहूदियों का भी विश्वास है कि जीवात्मा मरणोपरान्त किसी दिन उठेगा और प्रभुकृपा से उसका उद्धार होगा। कहने का आशय यह कि ये सिद्धान्त सभी धर्म-सम्प्रदायों में शाश्वत् सनातन रूप में विद्यमान हैं।

सत्कर्म करने की ओर सभी धर्म मतों ने व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट किया है। व्यक्ति का मुख्य जीवनोद्देश्य सत्कर्म को ही बताया गया है तथा इसको परिणति मृत्योपरान्त स्वर्ग मिलने के रूप में प्रतिपादित की गई हैं इसके विपरीत दुष्कर्म करने वालों को नरक मिलने की, यातना मिलने की बात कही गई है। यह स्वर्ग नरक है क्या? इसकी चर्चा सभी मतों में अपने-अपने ढंग से की गई है। हिन्दू मतानुसार ये दोनों परोक्ष जगत् है, जहाँ सूक्ष्म आत्माएं अपने किये कर्मों का फल भोगने हेतु कुछ समय के लिए निवास करती हैं। स्वर्ग में

देवताओं के निवास की राजभोगादि से युक्त वातावरण होने की बात कही जाती है, जबकि नरक में राक्षसों, पिशाचों आदि का निवास तथा अत्यन्त घृणित व पीड़ादायक होने की बात बताई जाती है। क़ुरान में भी आखिरत (प्रलोक) की चर्चा की गई है तथा सत्कर्म करने वालों को जन्नत (स्वर्ग) मिलने की घोषणा प्रस्तुत की गई है। जन्नत के विषय में उसने यह कहा है– **लाचमस्सुहुम न सबुन** अर्थात् वहाँ किसी तरह का कोई दुःख न छू सकेगा।

दूसरे तरफ अत्याचारियों को नरक देने की भी घोषणा की गई है। नरक के दृश्य का विश्लेषण इस प्रकार मिलता है–

**आग की ज्वालाएं उन्हें घेरे हुए हैं और जब वह प्यास से चिल्लाएंगे तो उसके उत्तर में उनको पानी दिया जायेगा, तेल की गाद जैसा और इतना जलता और खौलता हुआ कि भून डाले मुँह को।**

ईसाइयों का भी मत है कि जो कोई प्रभु यीशु पर आस्था रखता है, उसके पक्ष में यीशु अभिमत व्यक्त करेंगे तथा वे लोग स्वार्गाधिकारी होंगे।

कर्मफल की सुनिश्चितता तथा आत्मा की अमरता के प्रति विश्वस्त होकर सभी धर्म-मतों ने अपने मानव-जीवन को श्रेष्ठतम बनाने हेतु नैतिक सिद्धान्तों का निर्धारण किया है। प्रत्येक समाज में कुछ निन्दित कर्म भी निर्धारित किये हैं, जिनसे बचकर व्यक्ति हेय व नरकतुल्य जीवन जीने हेतु सुरक्षित रह सके। आदर्शों को दैनिक जीवन में अपनाये रहने के लिए उत्कृष्ट सिद्धान्तों का दैनिक स्मरण के लिए कुछ उपासनात्मक विधान भी प्रस्तुत किये गये हैं। हिन्दू धर्मानुसार काम, क्रोध, लोभ और अहंकार ये सब पतनोन्मुखी प्रवृत्तियाँ हैं। व्यक्ति को सदैव इनसे बचने की चेतावी दी गई है। इनके ऊपर नियंत्रण हेतु साधना, स्वाध्याय, संयम सेवा के चतुष्मार्ग सुझाये गये हैं। देवोपम जीवन जीने हेतु सादगी, शालीनता तथा परोपकार के आदर्श को अपनाने हेतु भी प्रेरित किया गया है। ईसाई ग्रंथ (गला 5-22-30) में यह उल्लेख है कि आत्मा का फल है–प्रेम, आनन्द, शान्ति, धीरज, उदात्तता,

सौजन्य, श्रद्धा, नम्रता और संयम। इनको अपनाने वाला बन्धन मुक्त हो जाता है। ईसा ने व्यक्ति को हत्या, व्यभिचार, अहंकार तथा शराबादि दुर्व्यसनों से बचने का संदेश प्रस्तुत किया था। इसके लिए उसने प्रत्येक धर्मावलम्बों को प्रतिदिन व्यक्तिगत रूप से तथा सप्ताह में एक दिन सामूहिक रूप से प्रार्थना में भाग लेने का आदेश दिया था। अपनी प्रार्थना में प्रत्येक ईसाई प्रभु से अन्तः के चक्षु खोलने हेतु विनय करता है, जिससे कि वह जीवन मार्ग में कहीं भटक न जाये। कुरान में धार्मिक कर्त्तव्य का उल्लेख इस प्रकार मिलता है कि –

यह पुण्य नहीं है कि तुम अपने मुँह को पूरब या पश्चिम कर लो। पुण्य तो परमेश्वर, मृत्यु-दिन, पैगम्बरों, ग्रंथों पर श्रद्धा रखने में है। धन सदा प्रेमियों, सम्बन्धियों, अनाथों, दरिद्रों को देना तथा रोजा (उपवास माह) रखना पवित्र कर्त्तव्य हैं साथ ही प्राणी मात्र के प्रति दया का भाव रखना तथा सदैव ईमानदार बने रहना परम धर्म हैं दूसरे तरफ सूद लेना, फिजूलखर्ची, मद्यपान, हत्या तथा दूसरों को सताया जाना निन्दित कर्म बताये गये हैं। पवित्र जीवन जीने के लिए प्रत्येक मुसलमान को कलमा पढ़ना, नमाज पढ़ना, रोजा रखना जकात (दान) तथा हज (तीर्थरूप) ये पाँच कर्त्तव्य बताये गये हैं। सूफी साधकों की धर्मयात्रा मनोवैज्ञानिक अनुभवों से अग्रसर होती चलती है। इसे अनेकानेक स्थिति (अहवल) तथा केन्द्र (मकमत) के रूप में जाना जाता हैं एक सच्चा सूफी होने के लिए इन सभी केन्द्रों का अनुभव लेना आवश्यक है तथा अन्ततः मुख्य केन्द्र में पहुँचकर पूर्णत्व का बोध (तवहिद) ही लक्ष्य होता है। इसके लिए सूफी भक्ताधिक प्रक्रिया (एकाग्रता) को अपनाते हैं। अहं विनाश तथा उत्कृष्ट प्रेम का प्रकटीकरण ही उनका लक्ष्य होता है। रूमी ने लिखा है कि जहाँ इकाइयों (विभेदों) का अस्तित्व नष्ट हो जाता है, वहीं एकत्व स्थापित होता है। व्यक्तिगत अहंकार विनष्ट होने पर केवल प्रभु रह

जाता है और तब सर्वव्यापक प्रेम का उद्‌भव (भक्तियोग) होता है ।

इस प्रकार सैद्धान्तिक धरातल पर प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय एक है । विभेद दृष्टि तो अज्ञानताजन्य ही है । एक कवि ने ठीक ही कहा है–

**गवामनेकवर्णानां क्षीरस्यास्त्येकवर्णता तथैव सर्वधर्मानां तत्वस्यास्त्येक वस्तुताः ।**

गायें अनेक रंगों की हैं, पर उनका दूध एक ही रंग का होता है । उसी प्रकार धर्म अनेक स्वरूपों में विद्यमान होते हुए भी, तत्वतः वे सब एक ही हैं । सईद ने भी लिखा है–

**राम कहो या रहीम कहो, दोनों की गरज अल्लाह से है ।**
**फिर क्यों लड़ता मूरख बंदा, यह तेरी खामखयाली है ।**
**है पेड़ की जड़ तो एक वही, हर मजहब एक-एक डाली है ।**

काश, आज की 21वीं सदी का धर्मान्ध व्यक्ति धर्म के इस मर्म को समझ पाता । न तो अगणित व्यक्तियों का तब रक्तपात होता, न अनेकों बेसहारा नारियाँ वैधव्य को प्राप्त होतीं, न ही प्रभु की प्रतीक स्थापनायें दुराचारी क्रूर व्यक्तियों का अड्डा बन पातीं । आवश्यकता हे कि मजहबों मं फैलायी जा रही खाइयाँ पाटी जायें ताकि एक सार्वभौम नियम व्यवस्था पर चलने वाला समाज निर्मित हो सके । उक्त मान्यता वेद विरुद्ध है । इस प्रकार के दृष्टान्तों से ही अज्ञानी भ्रमित हो जाते हैं । ईश्वर एक है यह तो सब कहते हैं परन्तु मान्यता एक ईश्वर की नहीं है । मान्यता अनेक ईश्वरों की है ।

# 24. संयम बरतें सुखी रहें

गाय कितना ही दूध क्यों न देती हो, यदि उसे फूटे पात्र में दुहा जायेगा तो वह नीचे गिरता जायेगा। दुहने वाले के कपड़े चिकने हो जायेंगे और जिस जगह वह फैलेगा वहाँ मक्खियाँ भिनकने लगेंगी। मनुष्य ने कितनी ही, किसी प्रकार की भी शक्ति अर्जित क्यों न की हो, परन्तु यदि उसे संभाल रखने का प्रबन्ध नहीं किया जा सकता तो वह ऐसे ही अस्त-व्यस्त होकर बिखर जायेगी और उनसे लाभ मिलना तो दूर उल्टे हानि उठाने का दुर्भाग्य सामने आवेगा।

असंयमों में इन्द्रिय असंयम को प्राथमिकता दी जाती है। इसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य से सीधा सम्बन्ध है। जिह्वा इन्द्रिय असंयमी होने पर चटोरी हो जाती है। चित्र-विचित्र स्वादों के लिए लालायित रहती है। प्राकृतिक स्वाद तो हर खाद्य पदार्थ में अपना-अपना है ही, परन्तु ऊपर से नमक-मिर्च, खटाई, मिठाई, चिकनाई आदि मिलाकर उसे इतना उत्तेजक बना लिया जाता है कि पेट की गुंजाइश का ध्यान न रखकर आवश्यकता से अधिक मात्रा में खा लिया जाता है। एक तो मिलावट वाले मसाले, दूसरे उनका तला-भुना जाना जायका तो बढ़ाता है, परन्तु उतना ही वह अपाच्य होता जाता है। मात्रा अधिक, साथ ही अपाच्य दोनों अवांछनीयताएँ मिलने से पेट में कब्ज़ रहने लगता हैं अपच सड़ता है। सड़न विषाक्तता उत्पन्न करती है। वह हानिकारक तत्त्व जहाँ भी अपने लिए जगह पाता है वहीं जम जाता है, और अनेकों बीमारियाँ पैदा करता है। यह क्रम चलते रहने पर पाचन-तंत्र गड़बड़ा जाता है। दुर्बलता बढ़ती है। रुग्णता छाई रहती है और समय से बहुत पहले अकाल मृत्यु से मरना पड़ता है।

जिह्वा का एक कार्य बोलना भी है। यदि वाणी में कर्कशता, कठोरता, मिथ्या भाषण, निन्दा, चुगली व्यंग्य-उपहास आदि दोषों का समावेश रहने लगे तो कलह, मनोमालिन्य बढ़ता है। मित्रता-शत्रुता में बदल जाती है। होना यह चाहिए कि सीमित बोला जाये। तथ्यपूर्ण कहा जाय। अपनी ओर से नम्रता और दूसरों के प्रति सम्मान का भाव जताया जाये। वाणी का असंयम ऐसे

दुष्परिणाम उत्पन्न करता है, जिससे अपने पराये हो जाते हैं और बदले में वैसे ही कटुवचन सुनने पड़ते हैं ।

कानों से, नाक से, आँख से, अपने-अपने स्वादों की माँग होती है । यदि उनकी सरसता पर मुग्ध रहा जाये तो समय की बर्बादी भी होती है, व्यसनी प्रकृति भी बन जाती है और जो शक्ति इनके द्वारा ज्ञानार्जन जैसे उपयोगी कामों में लगनी चाहिए, वह हेय प्रयोजनों में खपने लगती है ।

इन्द्रियों में स्वाद के बाद दूसरी प्रबलता कामेन्द्रियों की मानी जाती है । इसका अतिवाद बरतने पर जीवनी-शक्ति का असाधारण रूप से क्षरण होता है । शरीर पीला और मन खोखला हो जाता है । बुद्धि की तीक्ष्णता घट जाती है । स्मरण शक्ति में कमी आ जाती है और मन्दबुद्धि मूर्खों जैसा विचार प्रवाह मस्तिष्क में छाया रहता है । यह काया को क्षीण करने वाला दुर्व्यसन है । सन्तानोत्पादन में वृद्धि होती है और उसके कारण परिवार की सारी व्यवस्था चरमरा जाती है । पत्नी का स्वास्थ्य पति से भी अधिक गिर जाता है । अनगढ़ परिस्थितियों में पले बच्चे शरीर और मन दोनों ही प्रकार से दुर्बल होते हैं, उनमें आवारागर्दी जैसे अनेकों दुर्व्यसन आरम्भ से ही पलने और बढ़ने लगते हैं । इनके द्वारा उत्पन्न समस्याएँ उन्हें भुगतनी पड़ती हैं जिन्होंने कामुकता की सीमा का उल्लंघन करके अपने लिए काँटे बोये ।

चार प्रमुख संयम में से इन्द्रिय संयम के अतिरिक्त तीन हैं –(1) अर्थ संयम, (2) समय संयम, (3) विचार संयम । अर्थ संयम का तात्पर्य है कि औसत नागरिक स्तर का निर्वाह अपनाना । सदा जीवन उच्च विचार का सिद्धान्त व्यवहार में उतारना । विलासिता, प्रदर्शन, व्यसन आदि में कितना ही खर्च किया जा सकता हैं कपड़ों की फैशन, जेवरों की सजधज, शौक-मौज, आवारागर्दी में वह पैसा चुटकियों में उड़ जाता है, जिसे सदुपयोग में लगाकर अपनी परिवार की योग्यताएँ बढ़ाई जा सकती हैं । दूसरों की सहायता हो सकती हे । फिजूलखर्ची के दुर्व्यसन में फंसे हुए व्यक्ति आर्थिक तंगी भुगतते और कर्जदार रहते हैं बचत के नाम पर ऐसा कुछ छोड़ नहीं पाते जो बुढ़ापे में काम आये । आश्रितों की गाड़ी पार लगाये । मितव्ययता ऐसा सद्गुण है,

जिसके सहारे व्यक्ति अनेक दोष-दुर्गुणों से बचा रहता है और आड़े समय में किसी के सामने हाथ नहीं पसारता ।

समय संयम का तात्पर्य है, एक भी क्षण व्यर्थ के कामों में खर्च न होने देना । व्यस्त दिनचर्या बनाकर योग्यता बढ़ाने वाले, उपार्जन की आवश्यकता पूरी करने वाले, जनकल्याण के कामों में निरत रहना । संसार के प्रगतिशील व्यक्तियों में से प्रत्येक ने समय का श्रेष्ठतम सदुपयोग किया है । खाली समय गंवाने पर कुचेष्टाएं ही बन पड़ती हैं । ''खाली दिमाग़ शैतान की दुकान'' वाली उक्ति में बहुत कुछ तथ्य है । निठल्ले समय में शैतानी ही सूझती रहती है । बुद्धिमानी इसी में हे कि जीवन सम्पदा को समय के हीरे-मोतियों से गुँथी हुई कड़ी समझा जाये और उसके छोटे से छोटे भाग को भी सत्प्रयोजनों में लगाया जाये ।

शरीर की समर्थता, रक्त की शुद्धता और बहुलता परन्तु निर्भर है । मस्तिष्क की सम्पदा विचार है । विचार हर घड़ी उठते रहते हैं, परन्तु यदि उन पर नियंत्रण न रखा जाये तो उनका स्तर हेय ही बना रहेगा । यह स्वाभाविक गति है । पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति हर पदार्थ को ऊपर से नीचे खींचती है । पतन सरल है, उत्थान कठिन । असंयम सरल है, संयम कठिन । नदी का बहाव नीचे की ओर बहता है । और अन्ततः अत्यधिक गहरे एवं खारे समुद्र में मिल जाता है । यह क्रम चिन्तन का भी है । उसे लिप्सा, लोलुपता, लालसा अपनी और खींचती है क्योंकि तात्कालिक सरसता उन्हीं में दीखती है । इसलिए सहज रुझान उसी दिशा में चल पड़ता है । किन्तु यदि ऊँची दिशा में चलता हो तो उसके लिए पर्वतारोहण जैसी व्यवस्था तथा हिम्मत जुटनी पड़ती है ।

अनुकरण व्यक्ति का स्वभाव है । बहुलता पतनोन्मुख लोगों की ही है । चारों ओर उन्हीं के उदाहरण फैले हुये दीख पड़ते हैं । साथ ही यह भी प्रतीत होता हे कि जिसने पतन को अपनाया वे हाथों-हाथ लाभ उठाने की शेखी भी बघारते और चतुरता भी बखानते हैं । इन उदाहरणों का प्रभाव सामान्यजनों पर यही पड़ता है कि जब इतने लोग स्वार्थसिद्धि में लगे हुए हैं, हाथों-हाथ लाभ उठा रहे हैं तो हमें भी क्यों न उसी मार्ग पर चलना चाहिए । यही है वह

तर्क जो व्यक्ति को सहज सुहाते और अपनी रह पर घसीटते हैं इसलिए अधिकांश लोग असंयम अपनाते और पतन के मार्ग पर चलते हैं । पीछे भले ही उन्हें उसके दुष्परिणाम भुगतने पड़ें । तात्कालिक लाभ की बात सोचकर चिड़िया और मछलियाँ जाल में फँसकर अपनी जान गँवाती हैं । पतंगे दीपक पर जल मरते हैं । साँप और हिरन वीणा की मधुर तान सुनकर पकड़े जाते हैं । असमय अपनाने और तत्काल दीखने वाला आकर्षण भी ऐसा ही है, जो व्यक्ति को अपने जाल में फँसा लेता है और साथ ही उस कुमार्गगामिता का प्रतिफल भी अगले ही दिनों दिखाना आरम्भ करता है ।

कर्म का मूल विचार है । जो जैसा सोचता है वह वैसा बन जाता है । ललक-लिप्साएँ पहले मस्तिष्क में प्रवेश करती हैं सरस कल्पनाएँ बनकर घटाओं की तरह मानसिक आकाश में उमड़ती हैं । कुछ ही समय में वे घनीभूत होकर बरसने लगती हैं कर्म के रूप में उनका परिणाम प्रकट होता है । मनःक्षेत्र असंयम से घिर जाने पर गुण कर्म-स्वभाव सब उसी ढाँचे में ढलने लगते हैं । व्यक्तित्व का स्वरूप ही ऐसा बन जाता है, जिसमें हेय विचारों को हेय कार्यों में परिणत होते हुए देखा जा सके । अधिकांश लोग मानसिक असंयम अपनाते और कुकर्मों के गर्त में गिरते हैं ।

जिन्हें उत्कर्ष के मार्ग पर चलना है, उन्हें सर्वप्रथम अपने विचारों का परिमार्जन करना होता है । चिन्तन में, दृष्टिकोण में जो क्षुद्रता बस गई है उसका आदि से अन्त तक परिमार्जन करना होता है । कुविचारों को आदर्शवादिता की बुहारी से बुहारना पड़ता है । तभी वे कर्म बन पड़ते हैं ।जो ऊँचा उठाते और सर्वतोमुखी अभ्युदय के लक्ष्य तक पहुँचते हैं ।

# 25. अध्यात्म जगत के पंचशील

पंचशीलों के कितने ही प्रकार हैं। उन्हें विभिन्न महापुरुषों ने विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। वे सभी अपने-अपने कार्यक्षेत्र और समय के अनुरूप हैं। परन्तु इनमें से सभी ऐसे नहीं हैं, जिन्हें हर वर्ग का व्यक्ति कार्यान्वित कर सकने की स्थिति में हों ऐसी दशा में यह देखना होगा कि सर्वजनीन हित-साधन की दृष्टि से उनमें से किसका ऐसा चयन किया जाना चाहिए, जो आज की परम्पराओं के अनुकूल हो।

महात्मा बुद्ध के पंचशील उनके अनुचरों बौद्ध भिक्षुओं को प्रधान लक्ष्य मानते हुए निर्धारित किए गये थे। वे हैं—(1) किसी का जीवन नष्ट न करो अर्थात् पूर्ण अहिंसा बरतो। (2) जो तुम्हें न दिया गया हो उसे मत लो। अर्थात् चोरी से, छल से कुछ भी अर्जित न करो। (3) ब्रह्मचर्य पालो अर्थात् इन्द्रियों का संयम रखो। (4) कम बोलो, यथार्थ बोलो, धर्म के समर्थन को ध्यान में रखकर बोलो। (5) नशा मत करो। यह निर्धारण इसलिए किए गए थे कि धर्मोपदेशकों को, श्रद्धास्पद स्थान पर बैठने वाले लोगों को सामान्यजनों की तुलना में अपना स्थान ऊँचा रखना ही चाहिए अन्यथा सामान्य लोगों जैसा स्वभाव रखते हुए उच्च आदर्शों के सम्बन्ध में प्रवचन करते बन न पड़ेगा। जो करेगा उसा प्रभाव न पड़ेगा। पण्डित नेहरू और चीन के शासनाध्यक्षों ने मिलकर राजनैतिक पंचशीलों की घोषणा की थी। उन्होंने इस माध्यम से राष्ट्रों के बीच उत्पन्न होने वाली समस्याओं का समाधान खोजा था, वे थे—(1) राष्ट्र एक दूसरों की क्षेत्रीय अखण्डता का सम्मान करें तथा सार्वभौम हित का भी ध्यान रखें। (2) विवादों में आक्रमण की नीति न अपनायें, पारस्परिक विचार-विनिमय तथा पंच निर्णय के आधार पर उनका समाधान खोजा जाये। (3) एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करें। (4) समानता और अपने सद्भाव का निर्वाह करें। (5) शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की बात सोचें। यह पाँच बातें ऐसी हैं, जिन्हें राष्ट्राध्यक्षों के आपसी सम्बन्धों को सही रखने की दृष्टि से निर्धारित किया गया था। सब जानते हैं कि इनका

परिपालन न हो पाया व युद्ध की स्थिति बन गई । अतः इन्हें उन्हीं लोगों द्वारा अपनाया जा सकता है, जो निष्टापूर्वक निबाहने हेतु उद्यत हों । जनसाधारण इस संदर्भ में कुछ नहीं कर सकता । मात्र अपने शासकों से इसके लिए अनुरोध या आग्रह कर सकता है ।

गाँधी जी ने सत्याग्रह के दिनों में विशेष पंचशील की घोषणा की थी । उस समय की आवश्यकताओं को देखते हुए देशभक्तों के लिए इन्हें अपनाना आवश्यक था । वे इस प्रकार हैं–(1) निर्भयता, (2) शारीरिक श्रम, (3) अस्वाद, (4) सर्वधर्म समभाव, (5) अस्पर्शता निवारण । यह सभी वैसे हर समय में भी हर किसी के लिए कार्यरूप में अपनाये जाने योग्य हैं, परन्तु सत्याग्रही स्वयं सेवकों के लिए तो उस समय की विशेष आवश्यकताओं को देखते हुए उपयोगी थे ही । महर्षि पतंजलि ने पाँच कर्त्तव्यों को पाँच यमों का नाम दिया है–(1) अहिंसा, (2) सत्य, (3) अस्तेय, (4) ब्रह्मचर्य, (5) अपरिग्रह । यह पाँचों उनके लिये आवश्यक हैं, जो आत्मिक प्रगति के मार्ग पर चलना चाहते हैं । योग साधनायें करने के साथ ही इन अनुबन्धों का पालन करना आवश्यक निर्धारित किया गया है ।

एक पंचशील सेवाभावी उदारचेता लोगों के लिए अपनाये जाने योग्य हैं । उनकी गणना इस प्रकार है–(1) अपने सम्पर्क क्षेत्र के उत्कर्ष में आस्था, (2) मानवता के आदर्शों में आस्था, (3) स्वतंत्र अभिव्यक्ति में आस्था, (4) सामाजिक न्याय में आस्था, (5) प्रभुविश्वास ।

ये पंचशील ऐसे हैं जिन्हें जनसाधारण के लिए उपयोगी माना जा सकता है । इन्हें जनसाधारण द्वारा अपनाया और कार्यान्वित किया जा सकता है । हममें से प्रत्येक को इन्हीं सर्वोपयोगी पंचशीलों को धर्म-चेतना का सार समझते हुए अपनाने में अपना विश्वास एवं उत्साह व्यक्त करना चाहिए ।

# 26. धर्माचरण का मर्म

ऋषियों ने जीवन जीने की कला को धर्म का नाम दिया है । ऐसी कला जिसको सीखकर जीवन की सारी विकृतियों, कुरूपताओं का निवारण कर इसे सर्वांग सुन्दर और सुरुचिपूर्ण बनाया जा सकता है । इसके स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए मैथ्यू अरनॉल्ड ने इसे 'भावनामय नैतिकता' का नाम दिया है । उनके द्वारा दिया गया यह नाम निश्चित रूप से उचित लग सकता है । अकेली नैतिकता तब तक अधूरी है, जब तक इसमें भावनाओं का संयोग न हो । इसके बिना यह कठोर नियंत्रण बनकर रह जाती है ।

मानव जीवन को श्रेष्ठ व उन्नत बनाने के लिए आरम्भिक समय से लेकर आज तक लगातार प्रयत्न होते रहे हैं । समय-समय पर विभिन्न मूल्यों एवं मर्यादाओं की रचना की गई है । इन्हें मान्यता भी मिली है, पर इनको वही ठीक-ठीक रहे हैं । समय-समय पर विभिन्न मूल्यों एवं मर्यादाओं की रचना की गई है । इन्हें मान्यता भी मिली है, पर इनको वही ठीक-ठाक अपना सके हैं, जिन्होंने भावनाओं को उभारने में सफलता पाई है शेष के पूरी तरह सफल न होने का कारण इनसे विलग रहना ही है ।

जीवन जीने की शैली का निर्धारण मुख्यतः दो ढंग से हुआ है । एक वह जिसमें सुख-भोग को प्रधानता दी गई है । इसकी व्याख्या भारत में चारवाक तथा पश्चिम में बैंथम हाब्स, मिल आदि ने की है । दूसरी वह जिसमें भोगों की निन्दा कर आदर्श को प्रमुख बताया गया है । इसको बतलाने वाले स्टोडक, काण्ट, शोपेनहावर आदि हैं, किन्तु जन-सामान्य इसे ठीक तरह से अपना नहीं सका । उलटे इसे कठोरतावाद का नाम दिया । इसकी और उसकी स्वाभाविक अभिरुचि भी नहीं हुई ।

इसके कारणों पर विचार करने पर स्पष्ट होता है कि उसके मर्म को छुआ ही नहीं गया । भाव-सम्वेदनाओं को उभारा ही नहीं गया । व्यक्ति का यह एक स्वाभाविक गुण है । कोई विचार यह तब तक नहीं अपनाता, जब तक उसके बुद्धिगत सारे सवालों का जवाब न मिल जाये । आदर्श का मार्ग

त्याग की बात तो कहता है, किन्तु बदले में क्या मिलेगा, इसे वह बुद्धि को समझा नहीं पाता । गीता ने इसी तथ्य को व्यावसायात्मिका बुद्धि अर्थात् बुद्धि का व्यवसायीपन कहकर समझाया हैं आदर्श की कठोरता उसे न रुचे, यह स्वाभाविक ही है । यहाँ तक कि जो इसे किन्हीं तर्कों से मजबूर होकर स्वीकार लेते हैं, उनके द्वारा भी इसे किसी ऐसी चीज के रूप में देखा जाता है, जो विजातीय है और किसी विशेष वर्ग के लोगों के लिए है ।

भाव-सम्वेदनाओं का क्षेत्र बुद्धि से ऊपर है । इसमें व्यवसायीपन नहीं है । धर्म एक व्यावहारिक अध्यात्म इन्हीं के उद्‌गम स्रोत हैं । भावनाएँ भीतर से उमड़ती हैं । ये अन्तःकरण का उत्पादन हैं । इनसे प्रेरित व्यक्ति दूसरों की व्यथा, वेदनाओं को अनुभव कर सकता है । यही नहीं, इनको दूर करने के लिए बड़े से बड़ा त्याग करे में नहीं हिचकिचाता । प्रेम, सेवा, करुणा, उदारता जैसी आत्म-सम्वेदनाएँ इसी से उपजती हैं । इन दिव्य सम्वेदनाओं से संचालित होकर लोग खुशी-खुशी कष्ट सहते हैं, अपने लाभों का परितयाग करते हैं, भौतिक दृष्टि से घाटा उठाते हैं । आदर्शवादिता द्वारा किसी न किसी रूप में अपने स्वार्थों की बलि दी जाती है । उदार व्यवहार में भी कुछ न कुछ त्याग करना ही पड़ता है । भौतिक लाभ जैसी कोई बात इसमें दिखाई नहीं पड़ती । इतने पर भी भावनाओं के सम्बल के आधार पर इस राह पर चलना सहज बन पड़ता है । इस तथ्य को बुद्धिवादी गणित से नहीं सुलझाया जा सकता । यह भाव-सम्वेदना के क्षेत्र में उर्वरता की परिणति है, जो सारे तर्कों व बौद्धिकता से ऊपर जाकर जीवन को आदर्शोन्मुखी बनाती है ।

परन्तु भाव-सम्वेदनाओं के अकेलेपन में अक्सर एक गड़बड़ी होती है । वह यह कि इससे प्रेरित होकर अधिकांश लोग भावनाशील होने की जगह भावुक अधिक हो जाते हैं । इसी को भ्रमवश भावनाशीलता मान ली जाती है । इस प्रकार भावुकता की स्थिति में उन्हें ठगा और परेशान किया जाता है । चालाक लोग उनके भोलेपन का लाभ उठाकर उन्हें कठिनाई में डाल देते हैं । इसी कारण इन्हीं भाव-सम्वेदनाओं परिष्कृत नीतियों का अंकुश अनिवार्य है । इसी के आधार पर इन्हें व्यवहार में उतारा जा सकता है । श्रीरामकृष्ण ने

इसकी आवश्यकता पर बल देते हुए एक भावुक शिष्य से कहा था कि आध्यात्मिक बनना है तो आध्यात्मिक बन, बुद्धू नहीं। उनका कहना था कि प्रभु ने विवेक दिया है, उसे काम में लाना चाहिये। विवेकयुक्त व्यवहार ही नैतिकता है सच्ची धार्मिकता है।

एफ०एफ० ब्रैडले ने अपनी पुस्तक **"Appreanance and Reality"** में इस बात को अच्छे ढंग से समझाया है। उनके अनुसार जब नैतिकता एक ऊँचे और शुभ स्तर तक पहुँचती है, तब उसका योग भाव-संवेदनाओं से होता है। इस स्थिति में यह धर्म बन जाती है। इसे उन्होंने जीवन जीने का परिष्कृत दृष्टिकोण कहा है। ब्रैडले की इस बात में यथार्थता हैं अधिकांशतः व्यक्ति इस तत्त्व को गहराई से न जानने के कारण ही इसकी उपेक्षा-सी करते हैं। धर्म को कुछ कर्मकाण्ड का पर्याय भर मान लिया गया है, फलतः वे जिन क्रिया-कृत्यों को ग्रहण करते हैं, उसी में सीमित होकर रह जाते हैं अथवा यों कहें रूढ़ि ग्रस्त होकर धर्म के मार्ग से भटक जाते हैं।

ऋषियों के अनुसार भावनामय, नैतिकता जीवन जीने की परिष्कृत दृष्टि है। इसके आधार पर ज़िन्दगी व्यतीत करने पर मानवीय मूल्यों का संरक्षण और प्रसार होता है। धार्मिक होने का अर्थ है अन्तराल में पवित्रता, हृदय में सबके प्रति मैत्री भाव, मन में शान्ति, अपने पास विद्यमान साधनों में सन्तोष करने की प्रवृत्ति का होना। यही नहीं, व्यक्ति को कर्मनिष्ठ, श्रमशील एवं सहनशील होना चाहिए। इसी को सही अर्थों में धर्माचरण का पर्याय समझा जाता है।

इसके लिए न तो जाति, देश, काल का कोई बन्धन है और न ही किसी प्रकार की बाहरी योग्यता जरूरी है। संसार में प्रायः सभी काम ऐसे हैं, जिन्हें करने के लिए कुछ परिस्थितिजन्य बन्धन होते हैं। एक निश्चित योग्यता और निश्चित स्थिति का व्यक्ति ही इन्हें कर सकता है। जैसे यदि डॉक्टर, इंजीनियर अथवा प्रशासक का काम करना हो तो निर्धारित योग्यता होनी ही चाहिए, साथ ही इस योग्यता को पाने के लिए उपयुक्त धन भी चाहिए।

परन्तु अध्यात्मवादी होने के लिए ऐसी कोई बात नहीं। धनहीन और

बिना पड़े-लिखे कबीर और रविदास भी अध्यात्मवादी बन सकते हैं और संत एकनाथ के गुरु जनार्दन पन्त तथा रामकृष्ण परमंहस के शिष्य डॉ० रामचन्द्र दत्त जैसे पढ़े-लिखे और धनवान् भी । इसके लिए अलग से समय और स्थान की भी जरूरत नहीं, अपितु प्रत्येक व्यक्ति जिस समय जो काम कर रहा है, उसी में भावनामय नैतिकता का मिला देने से वह धर्माचरण बन जाता है ।

जो लोग धर्माचरण को केवल पूजा की कोठरी तक ही सीमित कर लेते हैं, उन्हें समझाते हुए जे० कृष्णमूर्ति का अपनी कृति Meditation में कहना है कि 24 घंटों में एक दो घंटे मन उच्च भावों में रखने से काम नहीं चलेगा । रात-दिन के प्रत्येक क्षण में भाव-संवेदनाओं व नैतिकता का समावेश करके इन्हें धर्माचरण के रूप में परिवर्तित करना चाहिए ।

इस स्थिति को जीवन की व्यावहारिकता में उतारना ही सच्चे अर्थों में धार्मिक बनना है । शुरू में सम्भव है इसमें कठिनाई अनुभव हो, पर महर्षि पतंजलि के शब्दों में **दीर्घकाल नैरन्तर्य सेवितो दृढ़ भूमिः** । अर्थात् लम्बे समय तक लगातार इसका अभ्यास करने प परिपक्वता सहज सम्भव बन जाती है ।

इसी स्थिति को बताते हुए आदिशंकराचार्य का उपदेश ''सहस्री'' में कहना है कि फिर समूचा जीवन ही धर्म-धारणा से भरा हो जाता है । धर्म की यही यथार्थ प्रक्रिया हम सभी के आचरण में लायी जानी चाहिए । गीताकार के शब्दों में **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महात भयात्** अर्थात् भावनामय नैतिकता रूपी धर्म का सही ढंग से किया गया थोड़ा-सा आचरण भी व्यावहारिक जीवन की तमाम सारी कठिनाइयों को दूर करने वाला है ।

# 27. सुखी जीवन का एकमात्र आधार—धर्म

जीवन का अर्थ है—संघर्ष, परिस्थितियों का आरोह-अवरोह, जिसे परिवर्तन भी कहा जा सकता है। अर्थात् परिवर्तन ही जीवन है और जीवन ही परिवर्तन। जीवन में दैत्यता, कुटिलता के आकस्मिक एवं अप्रत्याशित आक्रमणों को सहन करना अस्वाभाविक नहीं। परेशानियों, कष्टों और आपदाओं की आँधी आती है तो मानव शक्ति को कुण्ठित कर देती है, फलस्वरूप बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है, नैराश्यपूर्ण मानसिकता मनुष्य को किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना देती है, ऐसी विषम परिस्थितियों में, असहाय, निरुपाय व्यक्ति यह चिन्तन करता है कि हमारा सहायक कौन हो सकता है? हमारी रक्षा कौन कर सकता है? हमारा उद्धार कौन कर सकता है? साथ ही सत्पथ ज्ञान कौन करा सकता है? उत्तर एक ही है—वेदानुसार धर्म का पालन। सुख-शान्ति की परिस्थितियों का जनक भी धर्म है। कहना न होगा कि जिस दिन इस जगत् से धर्म की समाप्ति हो जाएगी, उस दिन सर्वनाश को कोई न रोक सकेगा। क्योंकि महाभारत युद्ध भी धर्म-अधर्म की लड़ाई थी।

वर्तमान युग में धर्म के प्रति लोगों की अनास्था बढ़ रही है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों, मान्यताओं में भी अवमूल्यन निरन्तर होता जा रहा है। अधर्माचरण के कारण व्यक्ति की सुख शान्ति भंग होती जा रही है, सर्वत्र असन्तोष का वातावरण व्याप्त है। चतुर्दिक भटकने के उपरान्त दृष्टि में एक ही उपाय परित्राण में सहायक सिद्ध हो सकता है—धर्म। वेद, उपनिषद्, स्मृति आदि धर्मशास्त्रें में इसी तत्त्व का निरूपण हुआ है। धर्म प्रधान युग अर्थात् सत्प्रवृत्तियों को बहुलता वाला युग सतयुग कहलाता है। सतयुग में सुख और सम्पन्नता का आधार धर्म होता है।

जो व्यक्ति धर्म का पालक, पोषक होता है, वही सच्चा धर्मात्मा कहलाने का अधिकारी है। धर्मनिष्ठ व्यक्ति के अन्तःकरण में वह शक्ति होती है जो असंख्य विघ्न-बाधाओं, प्रतिगामी शक्तियों को पराजित कर देती है। धार्मिक मनुष्य के जीवन में एक विशेष प्रकार का विलक्षण आह्लाद भरा रहता है, वह सर्वत्र सौरभ बिखेरता चलता है, उसकी उमंग एवं उल्लास से

आस-पास का वातावरण भी प्रभावित होता है । धर्म की प्राणवत्ता निर्जीव को भी सजीव बनाने में समर्थ होती हैं जीवन सच्चे धार्मिक का प्रधान लक्षण होता है । वस्तुतः धर्म व्यक्ति का वह अग्नि तेज है, जो प्रकाश उत्पन्न करता है, उसमें क्रियाशीलता एवं जिजीविषा जाग्रत रखता है । धर्मशील व्यक्ति विभन्न विपदाओं, विघ्न-बाधाओं में भी हिमालय के समान अटल एवं सागर के सदृश धीर-गम्भीर रहता है । अतः धर्म जीवन का प्राण और मानवीय गरिमा का पर्याय है, उससे ही मानव जाति की सुख-शान्ति और व्यवस्था अक्षुण्ण रह सकती है । परन्तु आज व्यक्ति भौतिक सुख सुविधाओं के जाल में फंसकर धर्म को भूल गया है । जैसे पंडित प्रकाश चन्द्र कविरतन लिखते हैं–

**कोई पूछता है तनख़्वाह कितनी है**
**कोई पूछता है बैंकों में रुपया कितना जमाया है ।**
**कोई पूछता है लाला शादी में तुम्हारी**
**ससुराल से भी कितना नक़द माल आया है । ।**
**कोई पूछता है बड़े साहब के बँगले पै**
**डाली भेज क्या खिताब पाया, क्या इनाम पाया है । ।**
**सब कुछ पूछते 'प्रकाश' ये न पूछे कोई**
**धर्म-धन, प्रभु-प्रेम कितना कमाया है । ।**

ऊपरलिखित विवेचन-विश्लेषण से यह निष्कर्ष एवं निचोड़ निकलता है कि धर्म हृदय इतना विशाल एवं विराट होना चाहिये कि जिसमें हिन्दुओं के वेदादि धर्म का मार्ग प्रदर्शित करते हैं, ईसाइयों के बाइबल आदि, मुसलमानों का क़ुरान आदि, सिक्खों का गुरुग्रंथसाहिब आदि धर्म शिक्षा से ओतप्रोत होने चाहियें । तभी मानव में मानवता के प्रति प्रेम प्रकट होना । अतः पाश्चात्य विद्वान् थॉमसन ने अपनी समष्टि से धर्म के विषय में लिखा है–

**सम्पूर्ण विश्व मेरा देश है, सम्पूर्ण मानवता मेरा बंधु है और भलाई ही मेरा धर्म है ।**

## लेखक द्वारा प्रकाशित एवं निःशुल्क वितरित पुस्तकों की सूची :–

1. रामचरितमानससार
2. गीतासार
3. उपनिषद्सार
4. सत्यार्थप्रकाशसार
5. भक्ति
6. सुखीजीवन
7. आत्मबोध
8. वेदवाणी
9. वैदिकसाहित्य
10. अमृतवाणी
11. महर्षि दयानंद
12. स्वामी विवेकानंद
13. शरणागति
14. वैदिक रामायण
15. क्या आप जानते हैं ?
16. शेर-ओ-शायरी
17. ओ३म्
18. गायत्रीरहस्य

## लेखक द्वारा अप्रकाशित पुस्तकों की सूची :–

1. वैदिक मनुस्मृति
2. वैदिक उपनिषद्वाणी
3. वैदिक दर्शनवाणी
4. वैदिक महाभारत
5. वैदिक गीता
6. अमर धर्मग्रंथ
7. अमर नीतिग्रंथ
8. पुराणपरिचय
9. ईश्वरसिद्धि
10. राष्ट्रभाषा हिन्दी
11. मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम
12. महावीर हनुमान
13. योगिराज श्रीकृष्ण
14. आदिशंकराचार्य
15. आचार्य चाणक्य
16. दस गुरु
17. आर्यसमाज के महामानव
18. स्वामी रामतीर्थ
19. संस्कार
20. गीतांजलि
21. आर्यसमाज
22. ज्ञानामृत
23. यज्ञ
24. संत
25. संतवाणी
26. आत्मकथा
27. भतृहरिशतक
28. ब्रह्मचर्य
29. गृहस्थ
30. सामान्य हिन्दी (भाग I-II) (सब कक्षाओं के लिये)
31. धर्म
32. कर्म
33. मन
34. सुखी कौन?
35. भारत के क्रांतिकारी
36. भारत के भक्त
37. Great Thoughts
38. Great Indians
39. Great Thinkers
40. Great Scientists
41. General English (Part I to V) (For All Classes)

कृपया पाठकगण इस ओर भी ध्यान दें कि इनकी निम्नलिखित पुस्तकों को इनकी वैब साईट **www.dpkapoorbooks.co.in** पर भी देखा जा सकता है।

1. अमृतवाणी
2. आर्यसमाज
3. आर्यसमाज के महामानव
4. आदिशंकराचार्य
5. आचार्य चाणक्य
6. अमर नीतिग्रंथ
7. अमर धर्मग्रंथ
8. दस गुरु
9. ईश्वरसिद्धि
10. गायत्रीरहस्य
11. ज्ञानामृत
12. गीतांजलि
13. क्या आप जानते हैं ?
14. मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम
15. महावीर हनुमान
16. महर्षि दयानंद
17. ओ३म्
18. पुराणपरिचय
19. राष्ट्रभाषा हिन्दी
20. संस्कार
21. संत
22. संतवाणी
23. स्वामी विवेकानंद
24. स्वामी रामतीर्थ
25. शरणागति
26. शेंर-ओ-शायरी
27. सामान्य हिन्दी (भाग **I-II**) (सब कक्षाओं के लिये)
28. वैदिकसाहित्य
29. वैदिक उपनिषद्वाणी
30. वैदिक दर्शनवाणी
31. वैदिक रामायण
32. वैदिक महाभारत
33. वैदिक गीता
34. योगिराज श्रीकृष्ण
35. यज्ञ
36. आत्मकथा
37. भर्तृहरिशतक
38. ब्रह्मचर्य
39. गृहस्थ
40. वैदिक मनुस्मृति
41. धर्म
42. कर्म
43. मन
44. सुखी कौन?
45. भारत के क्रांतिकारी
46. भारत के भक्त
47. **Great Thoughts**
48. **Great Indians**
49. **Great Thinkers**
50. **Great Scientists**
51. **General English (Part I to V) (For All Classes)**